विषय-सूची

विषय

अजातशत्रु

ऐतिहासिक आधार :—ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते समय 'प्रसाद' जी ने इतिहास के मूल सत्य की सर्वदा रक्षा की है; परन्तु अनेक स्थलों पर उन्हें अपनी बुद्धि का सदुपयोग दो कारणों से करना पड़ा है। पहली बात है एक ही विषय का भिन्न मतावलंबी ग्रंथों में नितान्त भिन्नता के साथ लिखा जाना। ऐसे स्थलों पर 'प्रसाद' जी को सबकी आलोचना करके प्रक्षिप्त और अतिरंजित अंश काट-छाँट कर इतिहास की मूल प्रवृत्ति का पता लगाना पड़ा है। दूसरे, प्रत्येक कथा और जीवनगाथा का अधिकांश अंधकार के गर्त में है, और संभवतः इन अवकाशों (Gaps) की पूर्ति कल्पना द्वारा ही की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि दोनो ही स्थलों पर निजी कल्पना का उपयोग नाटककार के लिए आवश्यक था। इस प्रसंग में कथा-गठन के उद्देश्य से 'प्रसाद' जी को दो प्रकार के परिवर्तन और भी करने पड़े हैं। एक, मूल कथा से कुछ प्रासंगिक वृत्त सम्बन्धित करके उन्होंने उसे अधिक प्रभावोत्पादक, स्वाभाविक और नाटकीय चमत्कार के लिए उपयोगी बना दिया है। दूसरे, कुछ नये पात्रों की उन्होंने सृष्टि की। उदाहरण के लिए मागंधी और श्यामा, शैलेन्द्र और विरुद्धक, जिनका तत्कालीन धर्म ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से उल्लेख मिलता है, 'अजातशत्रु' मे एक ही है।

'प्रसाद जी' का यह ऐतिहासिक नाटक ऐसा है जिसकी प्रायः सारी सामग्री और लगभग सभी पात्र-पात्रियों का उल्लेख किसी न किसी रूप म प्राचीन इतिहास अथवा धर्म ग्रन्थो में मिलता है। उस काल के सभी लेखकों ने एक ही घटना और पात्र के चरित्र का परिचय अपनी रुचि, आदर्श और सिद्धान्त की पुष्टि के उद्देश्य से घटा-बढ़ा कर दिया है। फलस्वरूप भिन्न ग्रन्थों में वर्णित एक ही घटना किसी ग्रन्थ में संक्षेप मे मिलती है तो किसी मे विस्तार से, और कभी-कभी तो भिन्न लेखको के कथनों मे बिलकुल विरोध भी मिलता है। यही बात पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध मे भी सत्य है।

बौद्ध ग्रन्थों मे बौद्ध शासकों को प्रशंसा है, शेष की निन्दा; इसी तरह जैन, ब्राह्मण आदि धर्मों के पोषकों की स्थिति समझिए। इस प्रकार बिखरी और जटिल सामग्री से 'प्रसाद जी' ने कुशलतापूर्वक कथा का संगठन करके पात्रों का सजीव चित्रण किया है। बिंबसार-अजातशत्रु, प्रसेनजित-विरुद्धक, बुद्ध-देवदत्त, उदयन-पद्मावती आदि के संघर्ष की कहानियाँ इतिहास में मिलती हैं। 'प्रसाद' जी ने उन्हें आगे-पीछे करके सबके घटने का एक ही समय मान लिया है। शुद्ध इतिहास की दृष्टि से यह उचित और सत्य नहीं; परन्तु नाटककार को इतनी स्वतन्त्रता रहती है और इसका उपयोग करके कथा वह जितनी ही सुगठित बना लेता है, उतना ही सफल समझा जाता है।

प्रधान कार्य :—प्रस्तुत नाटक का प्रधान कार्य सुख-शान्ति की स्थापना है, जिसकी व्याख्या महारानी वासवी ने इन पंक्तियों में की है :—

> बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बड़ा उनके मन में,
> कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
> बन्धु-वर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
> शान्ति-पूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हों क्यों घर।

अधिकार-लिप्सा और असत्य गर्व इस सुख-शान्ति के मार्ग की बाधाएँ हैं। छलना राजमाता होने के गर्व में है और अजातशत्रु राज्याधिकार प्राप्त करने की चिन्ता में। परिणाम यह होता है कि बिम्बसार, वासवी और पद्मावती के दोनों बैरी हो जाते हैं और महाराज की शान्ति तथा राजपरिवार का सुख संकट में पड़ जाता है।

कोशल-राजपरिवार में इस कथा की आवृत्ति होती है। पिता के प्रति किये गये अजातशत्रु के व्यवहार को कोशल का राजकुमार विरुद्धक अनुचित नहीं समझता; उसका समर्थन करता है। यह दुर्विनीत व्यवहार महाराज को असह्य है; उत्तेजित होकर आवेश भरे स्वर में वे उसे देश-निकाले का और उसकी माता शक्तिमती का

प्रतिकार के लिए प्रस्तुत होना स्वाभाविक है जिससे कोशल-राजपरिवार में अशान्ति होनी ही चाहिये। कोशल की कहानी बिलकुल मगध की तरह है; परन्तु कौशाम्बी में राजपारिवारिक अशान्ति का कारण इससे भिन्न है। वहाँ का मद्यप और विलासी शासक उदयन नई रानी मागंधी के रूप पर अत्यन्त मुग्ध होकर बुद्धिभ्रष्ट हो, छोटी रानी पद्मावती को कुटिल समझने लगता और उसे इसका दंड देने के लिए प्रस्तुत होता है।

मगध, कोशल और कौशाम्बी तीनों राजपरिवारों में इस प्रकार अशान्ति का बीज जमता है। असत्य गर्व, अशिष्ट व्यवहार और बुद्धिहीनता इसके कारण हैं। आरम्भ में मगध और कोशल की अशान्तिकारिणी शक्तियों को अपने अपने प्रयत्न में, विरोधी दल को झुका कर, दबा कर अपने पथ से हटा देने में, थोड़ी सफलता मिलती है जिससे वे उत्साहित होते हैं; परन्तु अन्त में उन्हें नीचा देखना पड़ता है और शान्ति के समर्थकों से अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगनी होती है। पश्चात्, सभी राजपरिवारों में हर्षोन्माद छा जाता है; उत्सव होने लगते हैं। असत्य गर्व और अशिष्टता के नष्ट होने पर इस प्रकार नाटक के कार्य की सिद्धि होती है।

कार्य की अवस्थायें—केवल तीन अंकों के इस नाटक को संघर्ष प्रधानता के कारण कार्य की अवस्थाएँ विशेष स्पष्टता से सामने नहीं आ सकी हैं। संक्षेप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि प्रथम अंक में विरोध का सूत्रपात होता है; अजातशत्रु राज्याधिकार हाथ में लेकर अपनी शक्ति संगठित करता है और काशी प्रांत पर अधिकार करने के लिए प्रस्तुत होता है। इधर कोशल का निर्वासित राजकुमार भी पिता से बदला लेने के लिए काशी आ जाता है।

दूसरे अंक के प्रारंभ में विद्रोही सफल होते हैं। अजातशत्रु कोशल की सेना को पराजित करता है। विरुद्धक कोशल सेनापति की छल से हत्या करने में सफल होकर अजातशत्रु की शक्ति बढ़ाने के लिए उससे आ मिलता है। विरोधियों की शक्ति अब पूर्णतः संगठित है, परंतु कोशल और कोशांबी की सम्मिलित सेना से वे युद्ध में पराजित

होते हैं। अजातशत्रु बंदी हो जाता है और विरोधी एक दूसरे को हार का कारण बताते-बताते आपस में लड़ने लगते हैं। इस प्रकार उनकी शक्ति नष्ट होती है; वे नीचा देखते हैं।

तीसरे अंक में गौतम और मल्लिका के सुप्रयत्न से कोशल और मगध दोनों राज्यों में शांति होती है। कोशलकुमारी बाजिरा का विवाह अजातशत्रु से हो जाने के कारण युद्ध-विग्रह का संकट उस समय ही नहीं, कुछ समय ही के लिये टल जाता है।

कथानक की संघर्ष-प्रधानता :— यह नाटक संघर्ष प्रधान है। युवकों और बूढ़ों में एक ओर द्वंद्व हो रहा है तो प्राचीनता नवीनता में दूसरी ओर। युवक अपने अधिकारों के लिए चिंतित हैं बूढ़े उनके प्रयत्न को दुस्साहस और धृष्टता समझते हैं। प्राची- के लकीर पीटनेवालों का दल सामने आता है तो उनके नवीनता के उपासक भी मौजूद मिलते हैं। पाश्चात्य और पूर्वीय सामाजिक तथा लौकिक आदर्शों के द्वंद्व की झलक भी ने यहाँ बड़ी कुशलता से संकेत-रूप मे दिखाई है।

पारिवारिक संघर्ष से नाटक का आरम्भ होता है। अजातशत्रु क्रूरता का विरोध पद्मावती करती है तभी छलना आकर उसे देती है और आवेश में वासवी को भी बुरा-भला कह जाती है पश्चात, क्षुब्ध होकर सम्राट बिंबसार से वह पुत्र के लिए प्राप्त करती है। इस कांड की चर्चा प्रसेनजित के यहाँ होती विरुद्धक इसमें कुछ अनुचित नहीं समझता और पिता से सूत्र हाथ में लेनेवाले अजातशत्रु के कार्य का समर्थन करता पुत्र की यह क्षुद्रता महाराज प्रसेनजित को उत्तेजित करती है वह उसे देश-निर्वासन का दंड देते हैं।

कौशांबी में सपत्नी-डाह से प्रेरित होकर मागधी अपने अनुरक्त महाराज उदयन के कान पद्मावती के विरुद्ध भरती है। विचारहीन, मद्यप और विलासी शासक इसे सत्य समझ, के चरित्र पर संदेह करके उसे दंड देने का निश्चय करता है।

इस तरह तीनों स्थानों में संघर्ष की आग लगती है। कौशांबी

तो मागंधी के महल में आग लग जाने से शीघ्र ही और बड़ी सरलता से षड्यंत्र खुल जाता है और उदयन को अपनी शीघ्रता पर लज्जित होना पड़ता है; परंतु मगध और कौशल की विद्रोहाग्नि युद्ध में भीषण रक्त-प्रवाह से शांत होती है। तीसरे अंक में विद्रोही अपने क्षुद्र कार्यों के लिए लज्जित होते हैं और क्षमा माँगते हैं। इस प्रकार संघर्ष का अंत करके नाटक समाप्त होता है।

मूल कथा के क्षेत्र से बाहर गौतम और देवदत्त के बीच धार्मिक महत्ता का प्रश्न लेकर एक और एकांगी संघर्ष चलता है, जिसका घनिष्ठ संबंध मगध की गृह-कलह से नाटककार ने स्थापित कर दिया है। महात्मा गौतम के प्रतिद्वंद्वी देवदत्त का मगध की छोटी रानी छलना बराबर सम्मान करती है और अजातशत्रु ने अपनी परिषद् में उसे ले लिया है। युद्ध की भयंकरता से भयभीत होकर अजातशत्रु जब उससे विमुख होना चाहता है तब गौतम से बदला लेने का अवसर देख, देवदत्त उसे उत्तेजित करके एक बार पुनः युद्ध के लिए प्रस्तुत करता है। मगध में गौतम का प्रभुत्व बढ़ने न देने की इच्छा से यह उन्हें मार डालने की भी चेष्टा करता है; परंतु अंत में, सरोवर में प्राण खोकर स्वयं ही इस संघर्ष का अंत कर देता है।

दुखांत या सुखांत—नाटक के सुखांत होने की पहचान केवल फल-प्राप्ति या कार्य-सिद्धि अथवा दुखांत होने का लक्षण किसी प्रधान पात्र की मृत्यु मात्र मानना उचित नहीं है। कार्य-सिद्धि के पश्चात् भी नाटक दुखांत और मृत्यु के पश्चात भी सुखांत हो सकते हैं। द्वितीय कथन का प्रमाण प्रसाद जी का यह नाटक है। बहुत समय के बिछुड़े दुर्विनीत पुत्र और पत्नी को क्षमाप्रार्थी के रूप में सामने पाकर उन्हें हृदय से क्षमा करके मगध का वृद्ध सम्राट् बिंबसार सुख-शांतिमय गृहस्थी की कल्पना में जब मग्न हो रहा है तभी उसे पौत्र जन्म का अत्यंत सुखद समाचार मिलता है। वृद्ध हृदय एक बार ही हर्ष से नाच उठता है, परंतु इतना सुख उससे सम्हाला नहीं जाता। हर्षातिरेक से वह लड़खड़ा कर गिर पड़ता है। दर्शक इस समय

पारिवारिक सुख-शांति के लिए लालायित इस वृद्ध के हर्ष को देखकर स्वयं प्रसन्नता के आँसू बहा रहे हैं, उनका दिल भी खिल रहा है। सम्राट बिंबसार के गिरने पर एक बार वे चौंकते तो अवश्य हैं, परंतु तत्काल यवनिका पतन होते ही सहर्ष मिलन के सुख की बात सोचने लगते हैं। अतः स्पष्ट है कि मरणांत होने पर भी 'अजातशत्रु' प्रसादांत नाटक है।

नायक कौन :—नाटक के सभी पुरुष पात्रों में केवल दो, अजातशत्रु और विरुद्धक ही ऐसे हैं जिनमें से एक को इस पद के लिए चुना जा सकता है। अजातशत्रु से विरुद्धक का अधिकार इस लिए अधिक है कि इसका चरित्र अपेक्षाकृत दृढ़ और व्यक्तित्व विशेष प्रभोवात्पादक है। देश से निर्वासित इस राजकुमार का उत्साह और साहस इतना अधिक है कि अकेले ही वह कोशल के विरुद्ध ही खड़ा होता है और साथ ही शाक्यों से बदला लेने की प्रतिज्ञा भी करता है। शैलेन्द्र बनकर उसने सारे काशी प्रांत को थर्रा दिया है। उसकी साधनहीनता सफलता के मार्ग में बाधक है; अन्यथा उसने कोशल और कौशांबी की सम्मिलित सेनाओं पर विजय प्राप्त कर ली होती। परंतु नाटककार ने उसका परिचय इस ढंग से दिया है कि अजातशत्रु के न रहने पर उसके व्यक्तित्व से हमारे परिचित होने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता और यही कारण है कि अस्थिर चित्त और अप्रधान चरित्र लेकर भी कथा को जन्म देने और उसके विकास में सहायक होने वाला अजातशत्रु ही नाटक का नायक माना जाता है।

कदाचित महात्मा गौतम को नायक मानने की किसी की इच्छा हो। समाधान यह होगा कि महान व्यक्तित्व लेकर भी नाटक के संघर्ष से वे उदासीन हैं। यत्र-तत्र उनके शांतिप्रद दर्शन भर हम करते हैं; नाटक की क्रियाशीलता में उनका कोई हाथ, कोई सहयोग नहीं है। वे स्वयं 'तटस्थ' रहना चाहते हैं।

नामकरण:—नाटक का नामकरण किसी प्रमुख पात्र के नाम पर किया जाता है; परन्तु अजातशत्रु नाटक का प्रमुख पात्र नहीं कहा

जा सकता। वह राजपुत्र अवश्य है, फिर भी उसका न कोई चरित्र है और न व्यक्तित्व ही। वह छलना और देवदत्त के हाथ का खिलौना भर है और युद्ध की भीषणता से भयभीत होकर तो उसने अपनी दुर्बलता का हीनतम परिचय दिया है। यह सब कुछ देखते हुए भी लेखक ने नाटक को उसी के नाम पर केवल इसीलिए रखा है कि कथा का केन्द्र वही है। नाटक का आरंभ उसी की एक क्रीड़ा से होता है जिसके औचित्य-अनौचित्य का उसे कोई पता नहीं है। अंतिम दृश्य मे भी वह ऐसे भावावेश में है कि संभवतः उसे अपनी स्थिति और कार्य का ज्ञान तक नही होगा। चरित्र की प्रौढ़ता और स्वतंत्र व्यक्तित्व की दृष्टि से छलना अथवा वासवी के नाम पर नाटक का नामकरण हो सकता था, और संभवतः यह उचित भी होता। कथा को जन्म देने में वासवी का हाथ भले ही न हो, परंतु उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र और आकर्षक अवश्य है तथा छलना की विरोधी प्रकृति ने उसका सौंदर्य और भी अधिक बढ़ा दिया है। कथा-विकास मे उसका परोक्ष हाथ बराबर रहता है; क्योंकि सारा संघर्ष काशी के उस प्रांत को लेकर होता है, जिसकी आय वह पति के हाथ में लाना चाहती है। नाटक की शांतिपूर्ण समाप्ति का तो अधिकांश श्रेय उसी को है। फिर भी कदाचित् उसकी निष्क्रियता नाटक का नामकरण उसके नाम के आधार पर करने मे बाधक जान पड़ती है।

जो हो, कथा के विकास में छलना का हाथ अजातशत्रु से भी अधिक है—अजात तो उसका खिलौना मात्र है, जिसे वह प्यार करती है, सजा-सजाया सिंहासन पर बैठा देखना चाहती है। व्यक्तित्व भी उसका नाटक के किसी पात्र-पात्री से घटकर नहीं है। ऐसी दशा मे नाटक का नामकरण उसके नाम पर किया जाता तो सम्भवतः अधिक उपयुक्त होता। हाँ, इसके लिए लेखक को अंतिम अंक में उसके चरित्र को अधिक सतर्कता से चित्रित करना पड़ता।

प्रासंगिक वार्ताएँ:—लेखक के कुछ प्रिय विषय होते हैं, जिनके संबंध मे अवसर पाकर अपने विचार प्रकट करने का लोभ वह संवरण नहीं कर पाता। कभी कभी विशेष उद्देश्य से भी मूल कथा से भिन्न

कुछ प्रासंगिक वार्ताएँ लेखक को बीच बीच में लानी पड़ती हैं। 'प्रसाद' जी के सभी नाटकों में दो-तीन दृश्यों की रचना ऐसे ही विषयों को लेकर की गई है जिनका न कथा-विकास में ही हाथ है और न वे स्थिति के बहुत अनुकूल ही जान पड़ती। अजातशत्रु में तीसरे अंक के चौथे दृश्य के स्त्री-पुरुष-प्रकृति को लेकर शक्तिमती और दीर्घकारायण के मुख से वे बातें उचित ही जान पड़ती हैं। 'स्कंदगुप्त' में ब्राह्मण-श्रमण का तथा 'चद्रगुप्त' में राक्षस-वररुचि का वाद-विवाद भी इसी कोटि में आता है। इन तथा ऐसी ही अन्य स्थलो को निकाल देने से संम्भवतः नाटक की कथा अधिक संगठित हो जाती।

धार्मिक आन्दोलनः—भारतीय इतिहास के जिस काल से इस नाटक का संबंध है, वह समय बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव का है। महात्मा गौतम के समकालीन शासक, जो इस नाटक के प्रमुख पात्र हैं, उनका आदर-सत्कार करते हैं। मगध और कोशल-सम्राट तो बौद्ध धर्म के सच्चे अनुयायी के रूप में सामने आते हैं ही, कौशांबी-शासक उदयन भी उनके उपदेशों पर मुग्ध है, और कई दिन तक उनके सुनने योग्य व्याख्यान अपने यहाँ कराता है और अपनी रानी पद्मावती की सुविधा के लिए उसके महल मे उसने नया झरोखा बनवा दिया है। परंतु मगध के वृद्ध सम्राट बिंबसार महात्मा गौतम का जितना सत्कार करते हैं, उनकी छोटी रानी छलना अथवा उसका पुत्र अजातशत्रु उन्हें उस दृष्टि से नहीं देखता। यही नही, वे तो गौतम के प्रतिद्वंद्वी देवदत्त के कहे में हैं और उसी के इशारे में चलने पर अपना कल्याण समझते हैं, यहाँ तक कि गौतम के प्राण लेने की चेष्टा का भी वे कोई विरोध नही करते। बौद्धधर्म के इस प्रवर्तक के संबंध में जन-साधारण के विचार भी लेखक ने कई स्थलो पर व्यक्त कराए हैं। सारांश यह कि महात्मा गौतम का व्यक्तित्व, उनके धर्म-प्रचार का रूप, उस कार्य का विरोध, जनता और साम्राटो की दृष्टि में उनका महत्व, एक शब्द मे बौद्ध धर्म की तत्कालीन स्थिति से प्रस्तुत नाटक के लेखक ने बड़ी कुशलता से हमें परिचित कराया है।

हास्य और विनोदः—प्रस्तुत नाटक में उदयन का विदूषक

वसंतक पाठकों को हँसाने का प्रयत्न करके अपनी स्थिति सार्थक करना चाहता है। प्रथम अंक, छठे दृश्य में वसंतक की हँसोड़पने की बातें कुछ सार्थक हैं। यद्यपि उनमें पाठकों के दाँत चमकाने की क्षमता नहीं हैं। लेखक यह नहीं चाहता कि पाठक इस स्थिति में हँसें, तथापि वातावरण के बीच में इन्हें सुनकर पाठक शांति की साँस अवश्य लेता है। हास्य के इस रूप की भी कभी कभी जीवन में आवश्यकता होती है। इसीसे नाटककार ने प्रत्येक अंक मे एक बार पाठकों को उसके दर्शन करा दिए हैं। परंतु कार्य में असफल रहने से नाटक में विदूषक की आवश्यकता संकट में पड़ जाती, संभवतः इसीलिए नाटककार ने उसे थोड़ा दूत-कार्य सौंप दिया है। तीन अंकों के तीन दृश्यों में उसके साथ हम मगध के राजवैद्य जीवक को देखते हैं जिससे वसंतक कथा-विकास सम्बंधी कुछ बाते कह कर पाठकों की जिज्ञासा-शांति का उपाय करता है।

कथाक्रम का परिचय देने वाले उसके कथन ये हैं। प्रथम अंक, छठे दृश्य में:—बड़ी रानी वासवदत्ता पद्मावती को सहोदरा की तरह प्यार करती हैं। उनका कोई अनिष्ट नहीं होने पावेगा। उन्होने ही मुझे भेजा है।

दूसरा अंक, नवे दृश्य में:—(क) पद्मावती ने कहा है—आर्य जीवक से कह देना कि अजात का कोई अनिष्ट नहीं होने पावेगा, केवल शिक्षा के लिए यह आयोजन है।

(ख) महाराज उदयन से (प्रसेनजित की) मंत्रणा ठीक हो गई है। आक्रमण हुआ ही चाहता है। महाराज बिंबसार की समुचित सेवा करने अब वहाँ हम लोग आया ही चाहते हैं।

तीसरा अङ्क, छठे दृश्य में :—कहाँ साधारण ग्राम्य बाला हो गई थी राजरानी! मैं देख आया—वही मागंधी ही तो है। अब आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़को के ढेले खाया करती है।

सारांश यह कि दूत-कार्य कराकर लेखक ने विदूषक वसन्तक की नाटक में अनावश्यकता का दोष मिटाने का प्रयत्न किया है।

'स्वगत' का प्रयोग :—रंगमंच पर कुछ वर्ष पहले, जो नाटक खेले जाते थे. 'स्वगत' कहे गये अंशों की उनमें भरमार रहती थी। मंच के पात्र ऐसे अंशो को मूल से भिन्न स्वर में पाठको को सुनाते-समझाते थे। आलोचकों ने अभिनय की दृष्टि से इन अंशो को अस्वाभाविक माना। उनका तर्क यह है कि जिन 'स्वगत' अंशों को पात्र-पात्री केवल दर्शकों को ही सुनाने के लिए उच्च स्वर में कहते हैं, यह कैसे सम्भव है कि उनको उन्हीं के पास खड़े अन्य पात्र न सुने और उन पर कोई प्रभाव न पड़े। अतः 'स्वगत' अंशों को निर्लिप्त भाव से सुनकर अभिनय करते रहना अनुचित ठहराया गया। अपने नाटकों को दोषरहित बनाने के लोभ से नाटककारों ने धीरे-धीरे ऐसे अंशों को कम करना आरम्भ किया। इधर के नाटकों में इनका प्रायः अभाव ही दिखाई देता है।

'स्वगत' अंशों को देने से लेखक का उद्देश्य पाठको को अपने पात्र-पात्रियों के सच्चे विचारों से परिचित कराना होता है। मन, वचन और कर्म में एकता रखने वाले व्यक्ति समाज में कदाचित् एक प्रतिशत भी नहीं मिलेंगे। शेष निन्नानवे व्यक्तियों के मन में कुछ होगा। कहेंगे कुछ और करेंगे कुछ और। ऐसी दशा में व्यक्ति को ठीक ठीक समझना सरल काम नहीं है। कर्म और वचन बाहरी चाल चलन की बाते हैं। सामाजिक शिष्टाचार का पूरा पूरा ध्यान रख कर ही हमे अपने मुख से वचन निकालने या काम करने पड़ते हैं। इसलिए यदि वचन और कर्म में एकता भी हो तो उसे प्रायः सामाजिक शिष्टाचार का ही फल समझना चाहिए।

परन्तु मन में जब हम बात करते हैं तब विचार धारा पर सामाजिक बातों का प्रभाव नहीं पड़ता। समाज मे रहते हुए भी मन में विचरण करते समय हम प्रायः स्वतंत्र रहते हैं। अतः मनुष्य को ठीक ठीक तभी समझा जा सकता है जब उसके वचनों और कर्मों को शिष्टाचारी आवरण से मुक्त करके समझने की योग्यता हममें हो तथा हम यह विवेचना कर सकें कि इनमें कितना अंश शिष्टाचार का फल है और कितना हृदय के सच्चे भावों और अंतःकरण की सच्ची प्रवृत्तियों

का। यह विवेचन-कार्य विशेष अध्ययन और अनुभव चाहता है। कदाचित् इसीलिए नाटकों में 'स्वगत' कथन द्वारा मन के सीधे-सादे भाव इस प्रकार व्यक्त कर दिए जाते थे कि उनसे व्यक्ति को भली भाँति समझा जा सके। इसमें संदेह नहीं कि मूलतः यह उद्देश्य उचित और साहित्योपयोगी ही था।

आज के नाटकों को अभिनय-कला की दृष्टि से स्वाभाविक बनाने के लिए आलोचकों ने जब उक्त दोष के कारण 'स्वगत' भाग को अनुचित ठहराया, तब वे भी उसकी उपयोगिता नही भूले थे। उनका उद्देश्य यह था कि जिन मानसिक विचारो को 'स्वगत' के अंतर्गत देकर हम पात्र-पात्रियो के चरित्र का परिचय देते हैं, उन्हीं के प्रभाव-स्वरूप उनकी भावभंगी, शारीरिक चेष्टा और कार्यों को दिखा कर संकेतरूप मे काम निकाला जाय तो यह ढंग अत्यन्त रोचक, कलापूर्ण और साहित्योचित होगा। साहित्य का उद्देश्य मानसिक विकास करना भी है 'स्वगत' का इस नए रूप में प्रयोग करने से साहित्य के इस उद्देश्य को पूर्ण करने में नाटक सहायक हो सकेंगे और निस्संदेह पाठकों के हाव-भाव, कार्य-कलाप आदि का विश्लेषण करके व्यक्ति को समझाने का प्रयत्न अत्यन्त रोचक और मानसिक विकास का सहायक सिद्ध होगा। हर्ष है कि आधुनिक नाटककारो ने इस बात को समझा और तदनुसार रचना करना आरम्भ किया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह केवल ऐसे 'स्वगत' अंशों के लिए है जो मंच पर आए पात्रों के सामने रहने पर कुछ ऐसे वाक्य कहते हैं जिनसे उनके हार्दिक विचार तो प्रकट होते हैं, परन्तु जिन्हें वे निकट खड़े हुए पात्रो से नही कहते और न चाहते ही हैं कि वे उसे सुन समझ लें। 'अजातशत्रु' में ऐसे स्थल थोड़े ही हैं; केवल छलना, जीवक, प्रसेनजित और समुद्रदत्त आदि ने दो एक स्थलों पर एक आध ऐसे वाक्य कहे हैं। प्रयत्न करने पर अधिक कला पूर्ण ढंग से इनसे छुटकारा मिल सकता था, इसलिए ये व्यर्थ ही हैं।

एक प्रकार के 'स्वगत' और हैं जो हमें प्रायः प्रत्येक दृश्य के आदि और अन्त में मिलते हैं। ऐसे अंश उन अवसरों पर कहे गए हैं जब

मंच पर दूसरा पात्र नहीं होता और इसलिए इन्हें अस्वाभाविक नहीं कह सकते; दूसरे, पात्र-पात्रियों की विचारधारा का इनसे परिचय मिलता है। इस प्रकार के 'स्वगत' प्रस्तुत नाटक में कहीं कहीं बहुत लम्बे हो गए हैं और कुछ में तो एक बात दोहराई गई है। दार्शनिक विचारधारा के फलस्वरूप, और कभी कभी भाव पूर्ण गद्य-काव्य की दृष्टि से, इन 'स्वगत' भाषणों का जो भी मूल्य हो। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अभिनय के विचार से ऐसे लम्बे स्थल दर्शकों को उबा देने वाले होते हैं। इनमे अधिकांश ऐसे हैं जो अपना उद्देश्य भी सिद्ध नही कर पाते और जिनसे सरलता से छुटकारा मिल सकता था।

कथा-विकास और उत्सुकता :—नाटक की कथा का क्रमिक संगठन इस ढंग पर होना चाहिये कि पाठकों की उत्सुकता निरंतर बढ़ती रहे। इसके लिए ढंग यह है कि आगे आने वाली घटनाओं की सूचना सकेत रूप में पाठकों को बराबर मिलती रहे। ये संकेत न तो इतने स्पष्ट ही होने चाहिए कि दर्शकों को आगे की घटना का स्पष्ट आभास मिल जाय और न इतने अस्पष्ट ही कि वे उनकी ओर ध्यान ही न दे सकें। प्रसाद जी ने स्थान-स्थान पर कुशलता से पाठकों की उत्सुकता बढ़ाने के लिए इस उपाय से काम लिया है। 'स्कन्दगुप्त' के प्रथम अंक, दूसरे दृश्य में, धातुसेन के ये तीन कथन—(१) स्त्री की मन्त्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है; इसलिए (तारा के मंत्रित्व से बालि को) सदा के लिए राज्य के झंझटों से छुट्टी मिल गई। (२) चाणक्य ने लिखा है, राजपुत्र भेड़िये हैं; इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए। (३) उस ब्राह्मण को लिखना चाहिए था कि राजा लोग विवाह ही न करें, क्यो भेड़ियो सी सतान उत्पन्न हो—अनन्त देवी के इशारे पर नाचते हुए महाराज कुमारगुप्त और पिता के प्रति भेड़िये की संतान का सा व्यवहार करने वाले पुरगुप्त के सम्बन्ध में सत्य सिद्ध होते हैं, तब हमें नाटककार की कुशलता पर साश्चर्य प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार देवकी की हत्या के षड्यन्त्र की बात सुन कर जब पाठक चिंतित हो जाते हैं तब नाटककार ने

स्कंदगुप्त के आजाने की सूचना देकर उन्हें चिन्ता से मुक्त कर दिया है।

आशय यह कि पाठकों की उत्सुकता की शांति तीन चार दृश्यों के पश्चात् अथवा कभी कभी दूसरे दृश्य में ही कर देना 'प्रसाद' जी का नियम रहा है। प्रथम अंक, पाँचवें दृश्य में रानी पद्मावती से उदयन के नाराज होने की सूचना मिलती है और वह मागंधी के उत्तेजित करने पर प्रतिशोध के लिए तैयार हो जाता है। पाठकों के मन मे स्वभावतः प्रतिशोध का स्वरूप जानने की इच्छा होती है। दूसरे ही दृश्य में जीवक हमें सब बातें बतला देता है। इसी अंक के सातवें दृश्य में राजकुमार विरुद्धक युवराज-पद से वंचित किया जाता है और उसकी माता का सम्मान राजमहिषी की तरह न करने की महाराज आज्ञा देते हैं; तभी पाठक के मन में तिरस्कृत परन्तु निर्भीक राजकुमार के विचार और उसकी माता के व्यक्तित्व से परिचित होने की उत्सुकता होती है। दूसरे ही दृश्य मे हमारी इस जिज्ञासा की शांति का प्रबन्ध लेखक कर देता है।

रसः—भारतीय नाटक-रचना-प्रणाली मे सब से प्रधान तत्व रस माना गया है। अन्य तत्वों की सार्थकता यही है कि रस की पूर्ण निष्पति में सहायक हों। विरोध, संघर्ष और युद्धप्रधान नाटक में केवल वीर रस की प्रधानता हो सकती है और यही अजातशत्रु का प्रधान रस माना जा सकता है। साथ ही महाराज बिंबसार की दार्शनिकता, महात्मा गौतम की शांतिप्रद शिक्षा और मल्लिका देवी की क्षमाशीलता से शांत रस भी अवसर पाते ही अपनी झलक दिखा जाता है।

सारांश यह कि वीर और शांत रसों की दो धाराएँ नाटक में कथा की प्रगति के साथ चलती हैं और अंत तक पहुँचते पहुँचते संघर्ष के समाप्त होने पर प्रथम की अप्रधानता और द्वितीय की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है।

गीतः—काव्यानंद को ब्रह्मानंद सहोदर मानने वाले भारतीयों की

सभी कला-कृतियों में काव्य का सुन्दर समावेश रहना स्वाभाविक ही समझा जाना चाहिए। नृत्य और संगीत में उन्नति भी हमने इतनी करली थी कि मनोरंजन के प्रधान साधनों से उनका निकटतम सम्बंध आवश्यक एवं वांछनीय था। अनुकरण द्वारा जनरंजन के उद्देश्य से नाटक रचने एवं खेलने को जब भारतीय साहित्यकार प्रवृत्त हुए तब काव्य-रुचि की अधिकता एवं संगीतकला प्रेम ने उनमें गीतों का समावेश कर दिया। यही कारण है कि सभी प्राचीन नाटकों में सुन्दर कविता के दर्शन होते हैं। आगे चल कर यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि नाटकीय कथोपकथन का अधिकांश पद्य में रहने लगा। इस वर्ग के कुछ कवियो ने तो पूरे नाटक ग्रंथ कविता में लिख डाले हैं।

हिन्दी-नाटक-रचना में प्रवृत्त होने वाले साहित्य सेवियों ने संस्कृत परिपाटी की देखा देखी आरम्भ से ही अपनी कृतियो को कविता से लाद रखा था। इसी समय बंगला और अँग्रेजी नाटकों से हमारा परिचय होता है। पाश्चात्य देशों की भी आदि नाटयरचनाओ में कविता का यथेष्ट प्रभाव रहा, परन्तु मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता का आदर्श सामने रख कर ज्यों ज्यो उनका समालोचना साहित्य उन्नति करता गया, नाटक से कविता का बहिष्कार करने वालों की आवाज़ त्यों त्यों ऊँची होती गई। वस्तुतः, नाटकीय पात्रों का पद्य में बातचीत करना, अथवा बीच बीच में कविता पढ़ने लगना है भी अस्वाभाविक और अनुपयुक्त। पाश्चात्य आलोचकों का यही प्रधान तर्क था।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र से लेकर जयशंकर प्रसाद के प्रादुर्भाव तक जितने नाटक हिन्दी में रचे गए सबमें जब-तब गीत गाए गए हैं। बँगला और अँग्रेजी नाटक-कारों की कविता के प्रति इस प्रकार रुचि का अभाव देख कर हिन्दी के आलोचकों ने इस प्रवृत्ति का विरोध आरम्भ किया। नाटककार भी धीरे धीरे स्वाभाविकता का महत्व समझने लगे। हिन्दी के प्रारंभिक नाटककारों की कृतियों से आज के सेवियों की रचनाओं का इसी दृष्टि से मिलान करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

'प्रसाद' जी आरंभिक रचनाओं में कविताओं की संख्या अधिक थी। स्वयम् कुशल कवि होने के कारण काव्य का पूर्णतः बहिष्कार करना तो उनके लिए संभव था नहीं, केवल अनावश्यक स्थलों पर ही उन्होंने उनका प्रयोग रोक दिया। दूसरी बात उन्होंने इस सम्बंध में यह की कि रचना में प्रयुक्त गीतों को स्थिति अथवा पात्र की दृष्टि से स्वाभाविक बना दिया। उनके प्रायः सभी नाटकों में दर्शन कविता अथवा संगीत-प्रेमी दो-एक पात्र-पात्रियाँ अवश्य हैं जो अपने गीतों के लिए आवश्यक वातावरण की सृष्टि करके उन्हें स्वाभाविक बना लेती हैं। 'अजातशत्रु' में 'प्रसाद' जी की छोटी बड़ी बीस कविताएँ हैं। स्थिति की स्वाभाविकता से यह निम्नलिखित वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं।

(१) नर्तकियों के गीत—चार। यों तो इस नाटक मे नर्तकियों का गीत केवल एक है जो उदयन के सामने उन्होंने गाया है, परन्तु मागंधी का एक और श्यामा के दो गीत भी हम इसी कोटि में रख सकते हैं जो उन्होंने क्रमशः उदयन; विरुद्धक और समुद्रदत्त की प्रसन्नता के लिए गाए हैं।

(२) एकांत में कवि अथवा किसी पात्र पात्री द्वारा गाए गए गीत जो भावावेष में, हृदय के उद्गार व्यक्त करने को गाए जाते हैं—छः। इसमें मागंधी के गीत दो हैं; शेष चार में पद्मावती, बाजिरा, विरुद्धक और श्यामा ने अपने हृदय की वेदना व्यक्त की है।

(३) ईश-प्रार्थनाएँ—तीन। पहली प्रार्थना गाते हुए भिक्षुक करते हैं और शेष दो वासवी और मल्लिका एकांत में करती हैं।

(४) करुणा, वासना, प्रेम आदि का रहस्य समझाने वाले गीत—पाँच। प्रथम दो महात्मा गौतम ने गाए हैं; एक में उन्होंने करुणा की महत्ता समझाई है और दूसरे का विषय सृष्टि की चंचलता है। तीसरा गीत उदयन मस्त और मुग्ध होकर मागंधी की प्रशंसा में गाता है। शेष दो वासना में लीन मदिरा पान करती हुई श्यामा प्रिय शैलेन्द्र को सुनाती है।

(५) नेपथ्य से विषय के अनुकूल शांति-संदेश वाहक अथवा

दार्शनिक भावयुक्त गीत—एक। नाटक के अन्तिम दृश्य में महाराज बिंबसार के लिए गाया है।

(६) शेष—एक। नाटक के प्रथम दृश्य में सुखी परिवार का संक्षिप्त चित्र खींचती हुई चार पंक्तियों की साधारण कविता वासवी ने कही है।

विषय की दृष्टि से 'अजातशत्रु' के गीत साधारण रूप से तीन भागो में रखे जा सकते हैं—

(१) दार्शनिक विवेचना-प्रधानगीत—प्रसाद जी को दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयों से बड़ी रुचि थी और तत्संबधी अध्ययन भी उनका पर्याप्त था। यही कारण है कि अनेक सुन्दर गीतों में तो दार्शनिकता की सुन्दर छाप है। भावों की कोमलता के कारण ये गीत विशेष प्रिय हैं।

(२) प्रेम, वेदना, वासना, सौंदर्यासक्ति आदि मनोभावों और अंतवृ त्तियों की व्याख्या करने वाले गीत 'अजातशत्रु' में ऐसे गीतों की संख्या सब से अधिक है।

(३) ईश प्रार्थनाएँ—महात्मा गौतम, देवी मल्लिका के गीत शांतिप्रद और संतोष देने वाले हैं।

नाटकीय स्वाभाविकता की दृष्टि से कई गीत विशेष आवश्यक नहीं प्रतीत होते और उनके अभाव में अभिनय का कार्य आसानी से चल सकता है। परन्तु नाटककार स्वयम् इतनी कविताएँ रखने के पक्ष में है। इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण में कविताओं की संख्या और अधिक थी। कुछ गीत लेखक ने आगे के संस्करणों में कम कर दिए। वर्तमान गीतो में तीन चार भावपूर्ण और सुन्दर हैं। साधु सन्यासी और वारविलासिनी के रहने से गीतों की संख्या इस नाटक में बढ़ गई है और इन पात्र-पात्रियों के संबंध ने उनकी अस्वाभाविकता का प्रश्न पीछे हटा दिया है। फलतः पाठकों को इन गीतो का आनंद ही उठाना चाहिए।

दृश्यों का साहित्यिक महत्व

पहला अंक

पहला दृश्य—इस दृश्य में नाटककार ने एक साधारण घटना को लेकर नाटक के चार प्रधान पात्र-पात्रियों—अजातशत्रु, पद्मावती, छलना और वासवी—के स्वभाव की मुख्य विशेषताओं की ओर स्पष्ट संकेत किये हैं। इस स्वतंत्र दृश्य की कथा का सम्बन्ध अगले दृश्यों की कथा से स्थापित न करके भी नाटककार ने मगध के राज-परिवार में आगे लगने वाली गृह-कलह की आग की बात कह कर पाठकों की उत्सुकता बढ़ाई है। मगध के भावी शासक को, जो समुद्रदत्त जैसे चाटुकारों से घिरा होने के कारण यथोचित शिक्षा से वंचित है, क्रूर देखकर सुखद और शांत शासन के लिए हम चिंतित हो जाते हैं। बौद्धधर्म के तत्कालीन प्रभाव का परिचय भी हमें यहाँ मिलता है। मगध सम्राट् की बड़ी रानी इस धर्म से सहानुभूति रखती है और उसकी पुत्री पद्मावती भी उसके साथ है। इसके विपरीत, छलना, सम्राट की छोटी रानी, राजमाता होने के गर्व में चूर रह कर बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त, अहिंसा को भिक्षुकों की भद्दी सीख कह कर हँसी उड़ाती है। पारस्परिक संघर्ष यहीं से आरंभ होता है। नाटक के इस प्रथम दृश्य में अजातशत्रु बुद्धिहीन क्रूर युवक के रूप में हमारे सामने आता है।

दूसरा दृश्य—नाटक के दो प्रमुख पात्रों बिंबसार और गौतम के प्रथम दर्शन हम यहाँ करते हैं। एक जीवन के भौतिक संघर्ष से ऊब दार्शनिक बन कर सामने आता है, और दूसरा विश्व की क्षण-भंगुरता के नित्य अनित्य दृश्य देख कर संसार से विरक्त हो, वर्षों के तप के पश्चात् शुद्ध बुद्धि होकर और विश्व मैत्री का महान संदेश लेकर। प्रथम की दार्शनिकता उसकी सुख-लिप्सा और भोग-विलास-तृष्णा को शांत नहीं कर पाती, दूसरे की शीतल वाणी, मधुर व्यवहार और अमर संदेश निज को ही नहीं, मानव मात्र को अनुपम शान्ति और अपूर्व सुख संतोष का अनुभव करा देते हैं।

छलना और वासवी के पिछले चरित्र यहाँ दूसरी सीढ़ी पर है। वासवी और पद्मावती का तिरस्कार और अपमान करने वाली छलना यहाँ मगधसम्राट बिम्बसार को उलाहना देती हुई पुत्र के राज्याभिषेक की आज्ञा-सी करती है और इस प्रकार शांतिस्वरूप गौतम के सामने भी अपनी टेढ़ी चाल और चरित्र की दुर्बलता का परिचय दे जाती है। वासवी का शान्त स्वभाव स्वयं सम्राट को भी शान्ति प्रदान करता है। पति की सेवा करती हुई एकांत निर्जन उपवन में जीवन के शेष दिन बिताने के लिए यह भारतीय नारी सहर्ष तैयार हो जाती है।

आगे की कथा से इस दृश्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। युवराज्याभिषेक की योजना, बिम्बसार के त्याग, गौतम के उपदेश और छलना के टेढ़े मार्ग का अवलम्बन इत्यादि के फल देखने को हमारी उत्सुकता बढ़ जाती है।

नैतिक दृष्टि से गौतम के दो तीन अमर सन्देशों ने इस दृश्य को महत्वपूर्ण बना दिया है।

तीसरा दृश्य—पिछले दोनों दृश्यों की कथा-सम्बन्धी कुछ सूचनाएँ यहाँ मिलती हैं। हमें पता हो जाता है कि लिच्छिवी-कुमारी छलना गौतम बुद्ध को 'कपटी मुनि और ढकोसलेवाले ढोंगी' समझने वाले भिक्षु देवव्रत की मन्त्रणा से पति के विरुद्ध हुई है और समुद्रदत्त भी इसी के कहने से अजातशत्रु को क्रूरता और कठोरता की सलाह देता है।

आगे के लिए दो संकेत इस दृश्य में महत्व के हैं—एक, गौतम को प्रभावशाली होता देख उसके प्रतिद्वंद्वी का राजशक्ति की सहायता लेने की बात सोचना और दूसरे, जीवक द्वारा कवि का इस क्रूर मन्त्रणा के परिणाम की ओर संकेत करना कि सावधान, मगध का अधःपतन समीप ही है। पाठक के मन में इस समय स्वभावतः यह उत्सुकता होती है कि कुमन्त्रणा पाने वाली दुर्बल शक्ति राज्य का यथोचित संचालन करके गौतम के अहिंसामय विश्वधर्म का प्रचार रोक सकेगी अथवा मगध साम्राज्य का ही पतन हो जायगा। गौतम

और देवव्रत की प्रतिद्वन्द्विता का रूप देखने की इच्छा भी हममें उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से यह छोटा दृश्य महत्त्व का है।

चौथा दृश्य—पुत्र को राज्याधिकार सौंपने के पश्चात् बिंबसार के विचारों और उसकी मानसिक स्थिति से पाठकों को परिचित कराने की आवश्यकता थी। 'प्रसाद' जी ने इस दृश्य में इसी की पूर्ति की है। मगध-सम्राट् का चरित्र समझने के लिए यह दृश्य महत्त्व का है। स्वामिभक्त सेवक जीवक का चरित्र यहाँ विकसित रूप में हमारे सामने आता है। जीवक के मुँह से ही देवव्रत के भयंकर निश्चय की सूचना पाठकों को मिलती है और इस प्रकार नाटककार बिंबसार और वासवी के प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करता है।

पिता से आँचल में मिले हुए काशी के राज्य की आय महाराज के हाथ में ही ले आने के वासवी के नये प्रस्ताव का सम्बन्ध आगे की कथा से है। पाठक बड़ी उत्सुकता से यह जानना चाहेंगे कि ऐसे धनी प्रदेश की आय छलना और अजातशत्रु अपने हाथ से निकल जाने देना कैसे स्वीकार कर लेंगे और वासवी उनके विरोध का क्या प्रत्युत्तर देगी।

पाँचवाँ दृश्य—कौशांबी में मागधी के मन्दिर का दृश्य यहाँ नाटककार ने दो उद्देश्यों से दिखाया है। एक, गौतम रूप के आकर्षण से कितना परे हैं कि जिस मागन्धी के 'प्रभावशाली रूप' पर कौशांबी-सम्राट् उदयन अपने को लुटा देता है, उसी को वे ससम्मान अस्वीकार कर देते हैं। साथ ही, 'सुनने योग्य उनके उपदेश' इतने प्रभावशाली होते हैं कि राजा उदयन उन्हें अपने राज्य में धर्म-प्रचार करने तक की आज्ञा दे देते हैं। दूसरे, नाटककार ने रूपवती रमणी मागन्धी के रहस्यमय चरित्र की एक छटा दिखलाई है। यह दरिद्र कन्या गौतम के अस्वीकार करने से अपना अपमान समझती है और कौशाम्बी की रानी होकर गौतम से प्रतिशोध लेने के लिए सपत्नी पद्मावती के आचरण को पाखण्डरूप सिद्ध कर देती है। कथा-विकास की दृष्टि से मूल कथानक का एक नया अध्याय यहाँ से शुरू होता है।

पद्मावती और गौतम के पाखंडपूर्ण आचरण का प्रतिशोध उदयन किस प्रकार लेगा, इस उत्सुकता के साथ इस दृश्य का अंत होता है।

छठा दृश्य:—पिछले दृश्य की उत्सुकता का समाधान, उदयन के प्रतिशोध का परिचय जीवक द्वारा नाटककार कराता है। परन्तु जीवक और गौतम का वार्तालाप नाटक की कथा के विकास में सहायक नहीं होता। विदूषक वसन्तक से रानी वासवदत्ता का सन्देश सुन कर पद्मावती की ओर से हम निश्चिन्त हो जाते हैं। यह दृश्य राजमहल के भयानक वातारण से प्रभावित नहीं है, कथा का साधारण परिचय ही इसका उद्देश्य है। कला की दृष्टि से विदूषक की हँसोड़पन की बातें सार्थक हैं। उनमें यद्यपि पाठकों के दाँत चमकाने की शक्ति नहीं है—स्वयं नाटककार यह चाहता भी नहीं कि पाठक इस स्थिति मे हँसे—तथापि वातावरण की भयानकता के बीच पाठक इन्हें सुन कर शान्तिपूर्वक साँस अवश्य ले सकता है।

साँतवा दृश्य:—कोशल में श्रावस्ती की राजसभा। इसमें उत्तेजित स्वभाव के महाराज प्रसेनजित, निर्भीक परन्तु अशिष्ट विरुद्धक और साहसी परन्तु सरल हृदय कुशल सेनापति बंधुल से हमारा परिचय होता है। तीनों पात्र अपने चरित्र की विशेषता से वातावरण को प्रभावित करते हैं। कथा विकास में भी इस दृश्य की घटनायें सहायक होती हैं। विरुद्धक के राजपद से वंचित किये जाने के अपमान का तथा सेनापति बंधुल की बढ़ती हुई शक्ति से महाराज के चौकने का फल जानने को हमारी उत्सुकता बढ़ती है। विरुद्धक की माता के, जिसका सम्मान राजमहिषी की तरह न करने की महाराज की आज्ञा है, व्यक्तित्व से भी हम परिचित होना चाहते हैं।

आँठवा दृश्य:—विरुद्धक और उसकी माता शक्तिमती के चरित्र का विश्लेषण इस दृश्य का विषय है। श्रावस्ती की राजसभा में उसकी निर्भीकता और अशिष्टता का यदि परिचय मिलता है तो इस दृश्य में उसके हृदय का कोमल भाव हमारे सामने आता है। प्रेम में यदि वासना की प्रधानता हो अथवा उसमें निराशा का भाव आ जाय

तो साधारण व्यक्ति अकर्मण्य हो जाता है। विरुद्धक इसी तरह अपने अपमान और तिरस्कार की बात मल्लिका के मोह में पड़ कर कुछ देर के लिए भूल जाता है, परन्तु माता के उत्तेजित करने पर उसकी वीर भावना फिर जाग्रत होती है ; वह शाक्यों से प्रतिशोध ले उनका संहार करके उनके रक्त में नहाने की क्रूर प्रतिज्ञा करता है। नाटककार इस प्रकार आगे के लिए हमारी उत्सुकता बढ़ा देता है।

विरुद्धक की माता शक्तिमती का साहसी और निर्भीक व्यक्तित्व उस नारी के लिए सर्वथा स्वाभाविक है जो स्वय दासी के पद से हट करके राजरानी के पद तक पहुँचती है और अपने पुत्र को महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्नि में कूदने की सहर्ष आज्ञा देती है।

नवा दृश्य:—उदयन के प्रतिशोध का प्रगट रूप यहाँ देखने को मिलता है। सोचने-विचारने की शक्ति से हीन यह शासक करुणा-निमग्न संन्यासी गौतम और अपनी पतिप्राणा स्त्री पद्मावती को भी न समझ कर अपने चरित्र की जिस दुर्बलता का परिचय देता है वह 'हृदय हीन मद्यप' के ही योग्य है। कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का कोई महत्व नहीं है। हाँ 'सती का तेज, सत्य का शासन,' इसका उद्देश्य मान कर इसे नाटक में रहने देने की बात कही जा सकती है।

दूसरा अंक

प्रथम दृश्य—नए हाथों में राजशक्ति लिए हुए आवेशयुक्त और उत्तेजित हृदय वाले व्यक्तियों की प्रतिकारलिप्सा इस दृश्य के आरम्भ में ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर लेती है। अजातशत्रु और देवव्रत दोनों के चरित्रों पर स्पष्टतर प्रकाश यहाँ डाला गया है। कथा-विकास की दृष्टि से यह दृश्य महत्वपूर्ण है। काशी के राजकर का प्रश्न लेकर नाटककार प्रथम अंक से इसका सम्बन्ध स्थापित करता और आगे मगध की राजशक्ति के कार्यक्रम की निश्चित सूचना पाठकों को देता है। भावी संघर्ष के सम्बन्ध में यहाँ हमारी उत्सुकता बढ़ती

है। कुमार विरुद्धक के प्रश्न से जो 'सुयोग' अजातशत्रु और देवव्रत को मिलता है वह स्थिति को भयंकर बनाने के लिए पर्याप्त है।

दूसरा दृश्य—कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का उतना मूल्य नही है जितना कि चरित्र-निर्देश का। सेनापति बंधुल की सरल और निष्कपट राजभक्ति, राजकुमार विरुद्धक का दुराचरण, वारविलासिनी श्यामा का अपने रमणीत्व की दुहाई देते हुए प्रेम-प्रदर्शन इत्यादि के सम्बन्ध में यहाँ इतने अस्पष्ट संकेत हैं कि कथा की भावी गति-विधि पर क्षण भर सोचने के लिए पाठक विवश हो जाता है।

मागंधी का नाम-रूप-परिवर्तन कल्पित होते हुए भी, नाटक की कथा से कुशलतापूर्वक सम्बन्धित कर दिया गया है।

तीसरा दृश्य—वीरहृदय बंधुल के अदम्य उत्साह, असीम साहस और अद्भुत वीरत्व का परिचय हमें इस दृश्य में मिलता है। भारतीयता के अनन्य भक्त 'प्रसाद' जी ने पांडवों की कोरी कहानी-सी रह जाने वाली अलौकिक बाण-विद्या में बधुल को ऐसा कुशल बतलाया है कि आज के जीव नहीं, उसी की समकालीन कोशल की महारानी शक्तिमती भी चकित हो जाती है। अलौकिक वीरता-सम्पन्न इस व्यक्ति का गुप्त रूप से वध कराके प्रसाद जी ने भारतीय सैन्य-शक्ति के विनाश के एक कारण की ओर संकेत किया है।

मल्लिका के महान चरित्र के पुण्य दर्शन पहले पहल हमें इसी दृश्य मे होते हैं। पतिप्राणा यह निर्भीक रमणी पति के कर्त्तव्य-कीर्ति-पथ मे बाधा डालने वाली अपनी भोगलालसा की मादक वासना पर गर्व से जो विजय प्राप्त करती है वह कोशल के कुशल सेनापति की वीर पत्नी के सर्वथा अनुकूल है। पति के विरुद्ध होकर पुत्र को उत्तेजित करने वाली स्त्री महामाया का दुराचरण सामने रखकर तुलनात्मक दृष्टि से मल्लिका का चरित्र लेखक ने और भी ऊपर उठा दिया है।

कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का महत्व केवल इतना ही है कि हम कोशल के शासक की अपने सेनापति के प्रति दुर्बुद्धि से परिचित होते हैं। हमारे मन मे उसके गुप्त आज्ञापत्र का तथा कोशल-

शासक की इस अदूरदर्शिता का परिणाम जानने के लिए सहज उत्सुकता होती है।

चौथा दृश्य—तीसरे दृश्य में रानी महामाया की कोशल के वीर सेनापति बंधुल के वध—उसी की स्त्री मल्लिका से कही हुई कोशल-नरेश के गुप्त आज्ञापत्र—की बात इस दृश्य में सत्य सिद्ध होती है। द्वन्द्वयुद्ध में प्रधान सेनापति बंधुल छल से शैलेन्द्र द्वारा मारा जाता है और इस तरह कोशल की सैन्यशक्ति की रीढ़ टूट जाती है। कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का संकेत केवल इतना है कि मगध से अवश्यंभावी युद्ध मे पराजित होने की तैयारी अपने सेनापति का वध कराकर कोशल नरेश ने स्वयं कर ली है।

प्रिय शैलेन्द्र को छुटाने के लिए श्यामा रूपिणी मागन्धी ने वार-विलासिनियो की-सी जो चाल चली है वह उसकी कूटनीतिज्ञता का परिचय देती है। 'स्वगत' के अंतर्गत अपने आदर्श के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे उसकी निर्मम कोमलता, स्वार्थी आनन्द और निष्ठुर व्यवहार का परिचय देते हैं। समुद्रदत्त को अपने प्रेम में फँसा कर बलि का बकरा बना डालना उसको निर्ममता, निष्ठुरता और स्वार्थ का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

पाँचवाँ दृश्य—नारी-जाति के लिए कठोर अभिशापरूप वैधव्य-दुख की मारी, सोहाग से वंचित मल्लिका का अनुपम धैर्य आतिथ्य धर्म के अद्भुत पालन का परिचय इस दृश्य में हमें लेखक देता है। नारी के शोकपूर्ण हृदय में हाहाकार का अनुभव करके भी यह विशाल हृदया रमणी अपने कर्तव्य से जरा विचलित नही होती। पतित-पावन गौतम से ही इन महान् गुणो की प्रशंसा कराकर नाटककार संतोष नही करता; छल और प्रवंचना से अपने पति का वध करने वाले प्रसेनजीत को पाकर उसके मुखमण्डल पर ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का कोई चिन्ह तक नहीं मिलता, तब इस मूर्तिमती करुणा की अलौकिक क्षमाशीलता के आगे हमारा मस्तक श्रद्धा से झुक ही जाता है।

छठा दृश्य—कथानक के विकास से इस दृश्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मगध में होने वाले परिवर्तनों का महाराज बिंबसार के विचारों पर क्या प्रभाव पड़ता है? यह तो हमें मालूम होता है, साथ ही कोशल और काशी की समस्त घटनायें हमें ज्ञात होती हैं। सेनापति बंधुल की मृत्यु से शक्तिहीन कोशल की पराजय के सम्बन्ध में अपनी शंका सत्य होते देख हमें आश्चर्य नही होता; कौशाम्बी के समाचार से तो पाठक पहले अवगत हो चुके हैं।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह दृश्य पूर्ण है। बिंबसार के दार्शनिक विचारों से एक ओर हमें उसके हृदय की अतृप्त अभिलाषा का पता लगता है, जिसके फलस्वरूप उसके मस्तिष्क में दार्शनिकता-भरी निराशा का जन्म होता है और दूसरी ओर छलना की क्षुद्रता का, जो व्यक्ति को न समझ कर आवेशयुक्त प्रतिहिंसा के लिए तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण व्यंग्य बाण चला कर अपने कल्पित प्रतिद्वन्द्वी का हृदय जर्जर कर देना चाहती है। देवी वासवी की महत्ता का नवीन परिचय हमें यहाँ मिलता है। बिंबसार की दार्शनिक समस्याओं का वह समाधान करती है और प्रतिहिंसा की आग में जलती हुई छलना की कटूक्तियों के लिए उस पर तरस खा कर विशाल हृदयता का सुन्दर आदर्श सामने रखती है।

सातवाँ दृश्य—मल्लिका की क्षमाशीलता की अन्तिम परीक्षा इस दृश्य में होती है। हृदय में पति के वियोग-धूल से ढँकी प्रतिहिंसा की आग को कुरेद कर उसका भागिनेय कारायण प्रज्वलित करना चाहता है; परन्तु मल्लिका शान्ति और करुणा की वारिधारा से अपनी अग्नि को तो शीतल करती ही है, कारायण की वेगवती बर्बरता को भी शान्त कर लेती है।

कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का केवल इतना ही महत्व है कि सेनापति और शासक से हीन दुर्बल कौशाम्बी राष्ट्र को हस्तगत करने से उत्तेजित और क्रूर अजातशत्रु विमुख हो जाता है। सद्वृत्तियाँ कुटिल हृदयों को प्रभावित कर सकता हैं, क्रूरों को भी शान्त कर सकती हैं, इस दृश्य से यह नाटककार का नैतिक संकेत है।

आठवाँ दृश्य—द्वितीय अंक के आरंभ में कथा-विकास का जो कार्यक्रम पात्रों ने निश्चित किया था, पिछले दृश्य की समाप्ति के साथ प्रायः वह पूरा हो जाता है। कई पात्र भी जैसे थक कर विश्राम कर रहे हैं। इस आठवें दृश्य से कथा की भावी गति-विधि पुनः निर्धारित की जाती है और पात्र संगठित और नवीन उत्साह भरी शक्ति लेकर अन्तिम निर्णय के लिए कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते हैं। शैलेन्द्र नामधारी विरुद्धक श्यामा के मोहजाल को तोड़ कर कारायण के साथ क्रूर मन्त्रणा करता है; महामाया उन्हें उत्साहित करती है। कौशाम्बी और कोशल की शक्तियों के सम्मिलित हो जाने की बात कह कर नाटककार ने अजातशत्रु की भावी पराजय की परोक्ष सूचना भी पाठकों को दे दी है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह दृश्य अपना स्वतन्त्र महत्व रखता है। सरल विश्वासमयी श्यामा को उसका प्रिय शैलेन्द्र धोका देकर अपनी कुटिलता और क्रूरता का परिचय देता है। जनमत और अपवाद की परवाह न करके गौतम उसी निरीह वारवनिता की प्राण-रक्षा करते और मानवता का पुनीत आदर्श सामने रखते हैं। मल्लिका देवी की आज्ञा से कोशल-सेनापति का पद ग्रहण करने वाला कारायण शक्तिमती के उत्तेजित करने पर विश्वासघातकता के लिए प्रस्तुत हो जाता है। पिछले दृश्य में मल्लिका और सम्राट् प्रसेन-जित दोनों के प्रश्नो का उत्तर न देकर मौन रह जाना उसकी जिस मानसिक दुश्चिन्ता और हृदय की ज्वाला का परिचायक था उसका घातक परिणाम देखने के लिए हम तैयार हो जाते हैं।

नवाँ दृश्य—उदयन के विदूषक वसंतक और मगध के राजवैद्य जीवक के हास्य और विनोदयुक्त वार्तालाप से तथ्य की इतनी बात मालूम होती है कि कोशल और कौशांबी नरेशों ने परस्पर मंत्रणा करके अजातशत्रु की सेना पर आक्रमण करना निश्चित किया है। मनोरंजन की दृष्टि से इस दृश्य का महत्व यह है कि जीवक की खीझ भरी कटूक्तियाँ और वसंतक की विनोदयुक्त उक्तियाँ दरबारी

चाटुकारों और सच्चे स्वामीभक्तों के कार्यों पर रोचक प्रकाश डालती हैं। विदूषक का अभिनय दर्शकों को हँसाने मे समर्थ होगा। कला की दृष्टि से इस दृश्य का यही उद्देश्य है।

दसवाँ दृश्य—द्वितीय अक का यह अन्तिम दृश्य कथा-विकास और मत दोनों दृष्टियों से महत्व का है। हमे एक ओर तो वसंतक की पिछली सूचना कोशल और कौशांबी दोनो की सम्मिलित सेनायें मगध पर आक्रमण करने आ रही हैं, की सत्यता का पता लगता है और दूसरी ओर अजातशत्रु, छलना और विरुद्धक के विचारों पर पूर्व घटना के पड़ने वाले फल से हम परिचित होते हैं। अजातशत्रु युद्ध की भयानकता से घबड़ा गया है। छलना उसकी निराश उदासीनता को कायरता समझती और पति-सेवा तथा पुत्र के गौरव, दोनों से वंचित होने के कारण बार बार खीझती है। विरुद्धक अब भी कूटनीति के द्वारा कोशल का सिंहासन हस्तगत करने का स्वप्न देखता है। कोशल के सेना-नायक को फोड़ लेने की सूचना पाकर आगे के सम्बन्ध में हमारी उत्सुकता बढ़ जाती है।

पति सेवा से वंचित होने के जिस दुख का अनुभव इस दृश्य में छलना ने एक बार किया है, नाटककार उससे उसके चरित्र में होने वाले आगामी परिवर्तन की ओर एक कलापूर्ण संकेत करता है। भविष्य में अधिक प्राप्ति की आशा से प्राप्य छोड़ देने वाले की यही दशा होती भी है।

तीसरा अंक

पहला दृश्य—असद्वृत्तियों का आश्रय लेकर उन्नति करने वाले पात्रों की पराजय की सूचना हमें यहाँ मिलती है। अजातशत्रु के वंदी होने पर छलना की निष्ठुरता और अन्त में सपत्नी वासवी के प्रति उसकी ग्लानियुक्त कातरता, विचारों का यह मार्मिक परिवर्तन, नैतिक दृष्टि से कितना सुन्दर है!

दूसरा दृश्य—प्रेम की मनोरम व्याख्या से इस दृश्य का आरम्भ होता है। प्रसेनजित की कन्या बाजिरा वंदी अजातशत्रु पर मुग्ध

हो आत्मसमर्पण करती है। अजातशत्रु इसे सहर्ष स्वीकार करता है। इस दृश्य का महत्व केवल कथा-विकास की दृष्टि से है, चरित्र-चित्रण अथवा कलात्मक चमत्कार के नाते नहीं। वाजिरा से विवाह की इच्छा रखने वाले कारायण से द्वंद्वयुद्ध का प्रस्ताव और वासवी की शीतल छाया में कुछ दिन विश्राम करने की अजातशत्रु की इच्छा, दोनो बाते हमारी उत्सुकता बढ़ाती हैं।

तीसरा दृश्य:—विरुद्धक पिछले युद्ध मे घायल होता है। मल्लिका युद्ध-क्षेत्र से उठा लाकर उसकी सेवा और प्राण रक्षा करती है। तथा इस प्रकार अपनी क्षमाशीलता का पुनः परिचय देती है। विरुद्धक ने ही उसके पति का वध किया था; उसको सामने पाकर भी घृणा न करना पूर्ण मानसिक निग्रह का अद्भुत आदर्श है। इसी से चमत्कृत होकर श्यामा सोचने लगती है—जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वही तो संपूर्ण मनुष्यता है।

विरुद्धक ने किसी समय मल्लिका से प्रेम किया था। उसी पूर्व प्रेमिका को अपने ऊपर इस प्रकार कृपा करते देख वह अनुमानता है कि कदाचित मल्लिका मेरी ओर झुक रही है। यह अविचार उसके कलंकी जीवन को और पतित करने वाला है। अत मे उसके विचार-परिवर्तन से नाटककार सज्जनों के सत्संग का सुफलसिद्ध करता और इस प्रकार मल्लिका देवी का महत्व पुनः प्रदर्शित करता है। श्यामा की विचारधारा यहाँ परिवर्तित रूप में प्रवाहित हो रही है। अपने पूर्व जीवन से ऊबी उसे धिक्कारती और विलासता को ठुकराती हुई मल्लिका देवी की सेवा स्वीकारती है। भौतिक सुख-लालसा चरम सीमा पर पहुँच जब विश्वासघातकता की ठोकर खाती है तभी उसकी आँखे खुलती हैं और भावुकताभरी विरक्ति-भावना जागरित होकर उसे मानवता के प्रति सजग कर देती है। श्यामा के विचार-परिवर्तन से नाटककार ने यही सत्य प्रतिपादित किया है।

चौथा दृश्य:—स्त्री-स्वतंत्रता सम्बन्धी सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में लेखक के विचार हमें इस दृश्य में मिलते हैं। भौतिक

उन्नति को जीवन का चरम लक्ष्य समझने वाले पाश्चात्य आदर्शों को अपना कर भारतीय नारी-समाज पुरुष-वर्ग से अपने अधिकार चाहने लगा है। उनका यह प्रयत्न स्वत्व-रक्षा के इस युग में यद्यपि नवीन और चौंकाने वाला नहीं है, तथापि इसके फलस्वरूप संघर्ष और प्रतियोगिता की जिस भावना का जन्म होता है, वह पारिवारिक और सामाजिक जीवन को शांतिमय नहीं रहने देती। 'प्रसाद' जी ने इस दृश्य में इसी समस्या की युक्तिसंगत विवेचना की है। प्रस्तुत नाटक की मूल कथा का घनिष्ट सम्बन्ध भी इस समस्या से है। अधिकार-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होकर ही छलना मगध सम्राट के पारिवारिक जीवन की समता नष्ट कर देती है।

'प्रसाद' जी का निश्चित मत है कि पुरुष और स्त्री, दोनों वर्गों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हैं और अपनी अपनी प्रकृति और शक्ति को न समझने के कारण ही परस्पर संघर्ष का जन्म होता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस दृश्य मे कोई विशेषता नहीं है। कोशल की रानी शक्तिमती आरम्भ में अपने प्रकृत उद्धत स्वभाव का परिचय देती हुई सामने आती है; परन्तु कारायण अंत में उसे शान्त कर लेता है। मल्लिका ने अपने वक्तव्य में स्त्री-जीवन की जो व्याख्या की है, पारिवारिक शान्ति के लिए वह वांछनीय है। हाँ, कारायण के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दृश्य के आरम्भ में जिस निराश हृदय से वह शक्तिमती से बातचीत शुरू करता है, वह नारी-जीवन की व्याख्या करते समय उसके उपयुक्त नहीं जान पड़ती। जो कुछ उसने कहा है, यदि वह मल्लिका देवी के मुख से कहलाया गया होता, तो सम्भवतः अधिक सुन्दर, उपयुक्त और प्रभावशाली होता।

कला की दृष्टि से इस दृश्य में एक दोष है लम्बे अवतरणों की अधिकता। पुरुष स्त्री के अधिकारों, शक्तियों और स्वभावों की विशेषताओं का विश्लेषण करने के लिए इन अवतरणों की अनिवार्यता का समर्थन किया जा सकता है, तथापि नाटकीय अभिनय की दृष्टि से और विशेषकर उस समय जब नाटक में ऐसे व्याख्या-प्रधान अंशों

की अधिकता हो, ऐसे परिच्छेद साहित्यिक सौंदर्य लिए रहने पर भी क्रियाशीलता की गति मन्द कर देने और इस तरह पाठकों को ऊबा डालने वाले होते हैं।

पाँचवाँ दृश्य—कोशल की पारिवारिक कलह का इस दृश्य में अंत दिखाया गया है। मल्लिका के कहने से प्रसेनजित पत्नी शक्तिमती और पुत्र विरुद्धक को क्षमा कर देते हैं। दोनों के स्वत्व दिलाने के लिए गौतम और मल्लिका ने जो तर्क उपस्थित किये हैं, शान्तिदायक होते हुए भी वे सर्वदा ग्राह्य नहीं; सभी समय उनके अपनाए जाने की अधिक आशा नहीं।

छठा दृश्य—पर-दुख-कातरता-जनित त्याग का अनुपम आदर्श सामने रखने वाले शान्त मुखमंडल और स्निग्ध गम्भीर दृष्टिवाले गौतम की महत्ता का जो ससम्मान अनुभव जनता उनके समय में करने लगी थी, उसी के सम्बन्ध में नाटककार ने एक संकेत यहाँ किया है। अंत में वसंतक ने मागंधी की वर्तमान दयनीय स्थिति की ओर कटाक्ष करके समझाया है कि भोगविलास की क्षुद्र लालसा विश्वासघातकता की ठोकर खाकर जीवन से किस प्रकार विरक्त हो जाती है।

सातवाँ दृश्य—रूपलावण्यवती मागंधी, जो भोगलिप्सा को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझती थीं, शैलेंद्र के क्रूर कर्म का आघात सह कर सचेत होती है। अतीत के विकारों की स्मृति यद्यपि अब भी उसके मन में बस रही है, तथापि अपनी वासना पर उसने कठोर नियंत्रण कर रखा है। गौतम के सम्पर्क से उसका उद्धार होता है और वह अपना आम्रकानन सब को समर्पित कर देती है।

आठवाँ दृश्य—मगध-परिवार की शान्ति का परिचायक दृश्य। पुत्र को पराजित और बन्दी देख कर छलना पहले ही सम्हल गई थी। अब यहाँ पद्मावती और वासवी से क्षमा माँग कर सब तरह सन्तुष्ट हो जाती है।

नवाँ दृश्य—नाटक का अन्तिम परन्तु महत्वपूर्ण दृश्य। महाराज बिंबसार की दार्शनिक व्याख्या से इसका आरम्भ होता है। पश्चात्, अजातशत्रु और छलना महाराज से क्षमा माँगते हैं। वासवी उन्हें पौत्र होने का शुभ सम्वाद सुनाती है। पत्नी-पुत्र, पुत्री, पुत्र-वधु, पौत्र को सहसा पाकर वृद्धहृदय इतना प्रसन्न हो जाता है कि काँप कर गिर पड़ता है। यहीं यवनिका-पतन होता है।

वासवी के चरित्र की महत्ता से चकित होकर महाराज के मुख से निकलता है—तुम देवी हो कि मानवी ? दर्शक भी उनके साथ यही सोचते और परिवारिक सुख शान्ति का मधुर अनुभव करते हुए उठते हैं।

चरित्र-चित्रण

'अजातशत्रु' द्वन्द्व-प्रधान नाटक है। मनुष्य का जीवन संघर्ष और युद्धो से भरा रहता है। इनसे ऊब कर या पराजित होकर जीवन बिताने वाले व्यक्ति-समाज में कायर और निर्जीव समझे जाते हैं। फिर भी संसार में ऐसे व्यक्तियो की संख्या में कभी कमी नहीं होती। इसके विपरीत, शक्ति भर संघर्षों से लड़ने, विघ्न बाधाओ को दूर करके कष्टों और कठिनाइयों का सामना करने वाले व्यक्ति जीवन मे कर्मवीर, भाग्य-निर्माता और महान् पुरुष कहलाते हैं। संसार इनकी पूजा करता है। जय अथवा पराजय इनकी महानता की कसौटी नहीं है। अनुचित उपायो का सहारा लेकर विजय प्राप्त करने वाले परमुखापेक्षी मे स्वावलंबी, साहसी परन्तु साधनहीन पराजित का आसन कहीं ऊँचा है। नाटक में भी दोनो ही प्रकार के पात्र रहते हैं। परन्तु अधिकांश का सबध प्रथमवर्ग से ही होता है और सांसारिक दृष्टि से यह यथार्थ भी है। प्रथमवर्ग के इन विजयी-पात्रो से पाठकों की कोई सहानुभूति नहीं रहती ; परन्तु द्वितीय वर्ग के पराजितो के लिए उनके हृदय में पर्याप्त समवेदना और सम्मान का भाव रहता है।

'अजातशत्रु' के प्रमुख-पात्रों में बिंबसार, गौतम, वंधुल, वासवी,

पद्मावती और मल्लिका द्वितीय वर्ग के पात्र-पात्री हैं। शेष का संबंध प्रथम वर्ग से है। द्वितीय वर्ग के कर्मवीर पात्र-पात्रियों में केवल बंधुल और मल्लिका लौकिक दृष्टि से पराजित समझे जायँगे; परन्तु नाटक में पाठकों की सहानुभूति सबसे अधिक इसी दंपति के प्रति रहती है। अस्तु।

पुरुष-पात्र इस नाटक के प्रायः साधारण कोटि के हैं। गौतम के अतिरिक्त अन्य किसी के चरित्र में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिसके कारण हमारा सर सम्मान से उसके सामने झुक जाय। यह ठीक है कि सभी मनुष्य किसी न किसी दोष से दूषित रहते हैं, और उनमे केवल गुण ही गुण दिखाने से चित्रण अस्वाभाविक हो जाता है, फिर भी नाटक के लिए ऐसे पात्रो का चुनाव उचित होता है जिनमे कोई ऐसी विशेषता अवश्य हो जो उनका चरित्र दूसरों से ऊपर उठाने में समर्थ हो सके।

'गुनदोषमय' विश्व के केवल दुर्बल पात्रों का विश्लेषण पाश्चात्य-कला के पुजारियों को पसंद हो तो हो, हमारे यहाँ समादृत नहीं हो सकता। दोषो की ओर से आँख मूँदने के पक्ष में हम नहीं हैं। फिर भी प्रमुख नाटकीय पात्रों के चरित्रों की विशेषताहीनता को कला के नाम पर स्वीकार हम नहीं कर सकते।

इस नाटक में लगभग पन्द्रह पुरुष पात्र हैं। इनमें सारिपुत्र, आनन्द, समुद्रदत्त, वसंतक और सुदत्त का नाट्य कथा-विकास में कोई हाथ नही है। शेष नौ पात्रो मे से शान्ति के सहचर, करुणा के स्वामी महात्मा गौतम समस्त मानवों के लिए पूज्य हैं, श्रद्धा से मस्तक झुकाने योग्य हैं। अतः उनमें दोष की कल्पना भी असत्य हो सकती है। दूसरे, इस नाटक मे इनके दर्शन हमें उस समय होते हैं जब प्रारंभिक जीवन के संघर्षों पर वे पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं। अतः कला के नाम पर उनके चरित्र का नही, प्रभाव की दृष्टि से उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण नाटककार को अभीष्ट है।

शेष आठ पात्रो में बिम्बसार, उदयन और प्रसेनजित तीन राजा हैं। तीनों के चरित्र की दुर्बलताओं के अनुपात का प्रसरण नाटक में उनके महत्व के प्रतिकूल होता है। उदयन का कार्य और स्थान सबसे

कम है ; इसलिए उसमें दुर्बलताएँ सब से अधिक हैं। उसकी रसिकता और रूप-लोलुपता उसे अन्धा बना देती है—सम्भव है, यह अवस्था का दोष हो। बुद्धिहीन की भाँति ही वह अपनी रानी पद्मावती को मारने के लिए तैयार हो जाता है। इन कार्यों से पाठकों को उसके चरित्र के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता।

प्रसेनजित का उत्तेजित स्वभाव आरम्भ में अपनी पत्नी और पुत्र के लिए तथा शङ्कित हृदय अपने ही सेनापति के लिए भयकर सिद्ध होता है, परन्तु आगे चलकर नाटक के कथा-विकास में उसका काफी हाथ देखकर 'प्रसाद' जी ने उसे सम्हाल लिया है। उत्तेजित स्वभाव और शंकित हृदय होने पर भी उसमें मनुष्योचित सोचने समझने की बुद्धि और सद्गुणों तथा सद्वृत्तियों का सम्मान करने की योग्यता है।

महाराज बिम्बसार का कथा की प्रगति से निकटतम सम्बन्ध है। इसलिए उसके चरित्र में लेखक ने मोह और वैराग्य का स्वाभाविक और अवस्थानुकूल मानसिक द्वन्द्व दिखाकर ही सन्तोष कर लिया है।

शेष पाँच पात्रों में अजातशत्रु और विरुद्धक दो राजकुमार हैं। प्रथम का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व है ही नहीं, वह नाटक का नायक अवश्य, परन्तु संघर्षों का सामना करने में अपने चरित्र की कुछ ऐसी दुर्बलताओं का परिचय देता है कि उसके प्रति सम्मान का कोई भाव हमारे हृदय में उत्पन्न ही नहीं होता। हाँ, विरुद्धक निर्भीक अवश्य है जिसका कर्म-पथ पर बढ़ने से हिचकने न देने के लिए, दूसरे शब्दों में उसकी कर्मवृत्ति को उत्तेजित और प्रेरित करने के लिए, उसकी माता की आवश्यकता होती है। इन नवयुवको के ऐसे चरित्रों से क्या लेखक का यह संकेत हम मान लें कि जिस देश के ऐसे चरित्रहीन शासक होंगे, वह अवनति के गर्त में अवश्य गिरेगा ?

देवदत्त, जीवक और बन्धुल अन्य प्रमुख पात्र हैं। इनमें प्रथम विचारहीन, ईर्षालु और षड्यंत्रकारी है। सम्भवतः महात्मा गौतम के प्रतिद्वन्द्वी भिक्षु की प्रकृति ऐसी ही रही होगी। हाँ, जीवक और बन्धुल के चरित्र बड़े प्यारे हैं। दोनों सरल और शुद्ध हृदय से अपने स्वामियो की सेवा करते हैं।

सारांश यह कि इस नाटक के पात्रों की विविधता तो स्वाभाविक है; नित्यप्रति हम विभिन्न प्रकृति और आचरण के व्यक्ति अपने चारो ओर देखते हैं, परंतु भारतीय आदर्श के अनुकूल विशिष्ट स्वभाव के प्रधान पात्र का इसमे अभाव है। प्रमुख पात्रों में से यदि कोई किसी न किसी महान गुण से विभूषित नहीं होता तो नाटक की कथा भी किसी सीमा तक विशेषता-रहित हो जाती है। यही बात हम 'अजातशत्रु' में देखते हैं।

नाटक के कथानक में जो कुछ प्रवाह और उत्तेजित वातावरण की कर्मशीलता है, वह स्त्री पात्रो की देन है। वस्तुतः स्त्री पात्रों ने ही इस नाटक को असफल होने से बचा लिया है। वासवी, पद्मावती, मल्लिका, मागधी, शक्तिमती और छलना सभी का अपना अपना व्यक्तित्व है। इनमे प्रथम दो मे सद्वृत्तियो की प्रधानता है और अंतिम तीन मे असद्वृत्तियो की। मल्लिका की विशालहृदयता केवल सुख-मग्न करने की वस्तु है। उसका चरित्र वड़ा प्यारा है और विशेष सम्मान के योग्य भी। उसकी परीक्षा सबसे कठोर है और उसमे वह विलकुल खरी उतरती है। उसकी प्रशंसा करते करते महात्मा गौतम भी गद्गद् हो जाते हैं; इसीसे उसके चरित्र की महानता स्पष्ट है।

सद्वृत्तिप्रधान पात्रियो मे वासवी और उसकी पुत्री पद्मावती भी हैं। द्वितीय का नाटक की कथा के विकास में कोई हाथ नही है; इसलिए उसकी हम झलक मात्र देखते हैं। वासवी की सदाशयता उसके पातिव्रतधर्म का फल समझना चाहिए। उसका वात्सल्य भी सराहनीय स्वाभाविकता की डोरी पकड़े हुए है।

छलना, मागधी और शक्तिमती असद्वृत्तिप्रधान पात्रियाँ हैं। इन तीनों की महत्वाकांक्षा कथा की प्रगति मे सहायक होती है। यह महान वृत्ति संसार के समस्त विकास का मूल है और दृढ़ता नामक सद्वृत्ति के साहचर्य से व्यक्ति को उन्नति के पथ पर ले जाती है। परतु कुछ असद्वृत्तियो का सहयोग हो जाने पर इसी के कारण व्यक्ति को पथभ्रष्ट होना और नीचा देखना पड़ता है। उक्त

पात्रियों में सबसे अधिक दृढ़ता शक्तिमती में है और सबसे कम मागधी में। असद्वृत्ति का सहयोग भी सबसे कम मिलता है शक्तिमती को और सबसे अधिक मागंधी को। शक्तिमती को उसकी क्रोधित उत्तेजना, यद्यपि वह थोड़ा-बहुत महत्वाकांक्षा-भावना को प्रदीप्त करने मे सहायक भी होती है, पथ-भ्रष्ट करती है और द्वितीय को वासनाप्रधान ईर्ष्या जो मनुष्य को सिवा नीचे गिराने के कभी ऊपर उठा ही नहीं सकती। फलत मागधी का यहाँ तक पतन होता है कि वह वेश्या-वृत्ति सहर्ष स्वीकारती है। इसके विपरीत, शक्तिमती को अपनी असफलता का अनुभव करने पर, क्रोधाग्नि शांत होने के पश्चात्, पुनः राजसी पद मिलता है।

छलना मध्यम श्रेणी की स्त्री है। कुमन्त्रणा और ईर्ष्या उसकी महत्वाकांक्षा की अग्नि को प्रज्ज्वलित करती हैं और अपनी असफलता-जन्य उत्तेजना के वशीभूत होकर पति और सपत्नी को वह अपशब्द तक कह जाती है। अत मे पुत्र की पराजय और उसके बंदी होने का समाचार पाने पर जब उसके वात्सल्य को चोट पहुँचती है, तब कुमन्त्रणा के कारण से मुक्ति पाने को वह प्रयत्नशील होती है। पश्चात्, उसके अतःकरण में सद्वृत्तियो का उदय और नारी-हृदय की कोमलता का ज्ञान होता है।

वस्तुतः महत्वाकांक्षा की महान वृत्ति जिस असद्वृत्ति के सहयोग से अवनति की ओर मनुष्य को ले जाती है उसी के शांत अथवा पराजित होने पर अर्थात् सद्वृत्ति के पुनः सहयोग पर पतित को उत्थान की ओर उठाती है। छलना की कुमन्त्रणा-जनित ईर्ष्या, मागंधी की वासना-प्रधान ईर्ष्या और शक्तिमती की क्रोध-मूलक उत्तेजना आदि असद्वृत्तियाँ असफल, पराजित और शांत होने पर जिस निर्मल रूप मे हमारे सामने आती हैं, वह छलना के लिए निस्वार्थ सेवा-प्रधान वात्सल्य, मागंधी के लिए अनुपम धैर्ययुक्त क्षमा और शक्तिमती के लिए सदुपदेशजनित निर्मल प्रेम जैसी सद्वृत्तियो के सहयोग का सुफल समझना चाहिए। मूल रूप मे सद्वृत्तियाँ मानव-हृदय में ही वर्तमान रहती हैं। परंतु इनका उदय उस समय होता है जब असद्वृत्तियों

को बहुत गहरी ठेस लगती है अथवा कोई बड़ी हानि होती है। छलना अपने एकमात्र पुत्र को बंदी देखकर जिससे उसका हार्दिक वात्सल्य तिलमिला जाता है, मागंधी प्रिय शैलेंद्र की विश्वास-घातकता की चोट खाकर जिससे उसका प्रेममय हृदय भग्न हो जाता है, और शक्तिमती असफलता का भारी धक्का खाकर, जिससे उसकी कल्पना-प्रासाद की दीवारें ढह जाती हैं, सचेत होती है।

बिंबसार

संसार के संघर्षों से ऊबे हुए मगध-सम्राट् का दर्शन नाटककार हमें उसके जीवन के संध्याकाल मे कराता है। राजनीतिक अशान्ति अनेकानेक विद्रोह और कुचक्रों का दमन करके भी—राज्य की तो बात दूर जब वे अपने छोटे परिवार मे ही शान्ति न स्थापित कर सके—अपने प्रयत्न में बुरी तरह असफल रहे तब उनका दार्शनिक की तरह पाठको के सामने आना स्वाभाविक ही है। फिर भी भीषण 'भोग से विश्राम' लेने को वे प्रस्तुत नहीं हैं—राज्य के भौतिक सुखों से अभी उनकी तृप्ति नही हुई है।

अजातशत्रु को युवराज बना देने का प्रस्ताव करने वाले गौतम के सामने पुत्र की अयोग्यता का प्रश्न उठाना उनकी इस अतृप्ति की ओर संकेत करता है। अपनी यह दुर्बलता प्रकट करके उन्होंने प्रथम अंक, दूसरे दृश्य के आरम्भ में कहे हुए अपने दार्शनिक विचारों को परोक्षरूप से सत्य सिद्ध कर दिया है।

अजातशत्रु का राज्याभिषेक कर देने के पश्चात् उन्हें एक प्रकार से संतोष हो जाता है। पुत्र तो पिता की आत्मा ही है और पुत्र को अधिकार देना मनुष्य 'अपनी ही आत्मा का भोग' समझ कर सन्तुष्ट हो जाता है। इस वानप्रस्थ आश्रम में उन्हें थोड़ा दुःख तभी होता है जब कुछ मिलने की बड़ी आशा लेकर आये हुए भिक्षुकों और याचकों को अपने पास से निराश लौटता वे देखते हैं। वासवी उनके कष्ट को दूर करने के लिए पिता से आँचल में पाये हुए काशी के राज्य की

आय ले लेने का उनसे प्रस्ताव करती है और वे सहमत हो जाते हैं। झगड़े की दूसरी जड़ यही है जिससे छलना उनके फिर विरुद्ध हो जाती है।

प्रतिहिंसा-जनित इस अप्रिय व्यवहार और छलना के उद्धत स्वभाव ने तथा पुत्र की अशिष्टता और कृतघ्नता ने शान्ति के इच्छुक इस वृद्ध शासक को निराश दार्शनिक बना दिया। संसार उसे विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यन्त्र और प्रतारणा से भरा दीखने लगता है। फलस्वरूप संसार की घटनाएँ जानने के लिए उसके मन में किसी प्रकार की उत्सुकता और रुचि नहीं रह जाती।

नाटक के अन्त में उद्दंड-स्वभाव पुत्र को अपने सामने विनम्र और पत्नी को क्षमा-प्राथिनी के रूप में पाकर यह वृद्ध-हृदय अत्यन्त हर्ष से इतना गद्‌गद हो जाता है कि अपने को सम्हाल ही नहीं पाता। परन्तु उसकी प्रसन्नता से दर्शक इतने सुखमग्न हैं कि उसके जीवन का यह अंत भी किसी के हर्षातिरेक को कम नहीं कर पाता। हमारी सम्मति में तो यह भी उसके सुख-सौभाग्य का ही चिह्न है।

अजातशत्रु

अपने चित्रक के लिए मृगशावक न लाने वाले शिकारी लुब्धक की चमड़ी कोड़े मारकर उधेड़ने को तैयार कठोर हृदय किशोर के रूप में अजातशत्रु सर्वप्रथम हमारे सामने आता है। क्रूर और निष्ठुर कामों से उसी को बचाने वाली स्नेहमयी बहन का हृदय समझने की उसमें बुद्धि नहीं है। पद्मावती जब उसे उक्त निर्दय कर्म से रोकना चाहती है तब वह इसका विरोध करता है। अपनी माता को वासवी और पद्मावती का अपमान करते देख कर भी वह अविचलित रहता है। उसकी न निजी इच्छा-शक्ति है और न विचारशक्ति ही: माता के इशारे पर वह सब काम करता है। ऐसे विचार शक्ति-हीन युवक के हाथ में मगध के शासन की बागडोर जाने पर क्या दशा होगी, इसकी कल्पना से ही पाठक चिंतित हो जाता है। कुछ

समय पश्चात् राज्याभिषेक के उत्तरदायित्व को बिना समझे ही अजातशत्रु गौतम के सामने सब काम सम्हाल लेने की हामी भर लेता है।

संचालन-सूत्र हाथ में लेने पर अजातशत्रु में उत्तेजना और आवेश के साथ-साथ परनिर्भरता और भी बढ़ जाती है। काशी की प्रजा द्वारा राजाज्ञा के उल्लंघन की सूचना पाकर विमाता के व्यंग्य स्वर की बात सोच वह क्रोधित हो जाता है। इस समय प्रतिकार के उपाय के लिए उसे देवव्रत की सलाह चाहिए। परिवर्तन-प्रेमी बन कर प्राचीन राजतंत्र की पद्धति को सुधारने की इच्छा होने पर भी उसमे सुलझी हुई बुद्धि नहीं है। परिषद् के सदस्यों के सामने यद्यपि बड़ी चतुरता से वह सारी स्थिति रखता है, फिर भी अपनी उत्तेजना के कारण इतनी शीघ्रता से वह मूल विषय पर आ जाता है कि देवदत्त को बीच ही में बोलना पड़ता है। वस्तुतः सरलहृदया विमाता का विरोधी होकर भी वह देवदत्त की तरह कुटिलहृदय-और कूटनीतिज्ञ नहीं बन सका है। कुमार विरुद्धक के पत्र से उसे प्रसन्नता है। परन्तु कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति वह उसके कारण और परिणाम पर विचार नहीं करता।

कोशल की सेना को पराजित करने के पश्चात् मगध लौटने पर जब उसे पुनः उदयन और प्रसेनजित की सम्मिलित सेना के आने का पता चलता है तब उसके चरित्र की दुर्बलता से हम परिचित होते हैं। माता के उत्तेजित करने पर उसका यह कहना कि तुम्हारे ही कहने से पिता को हटा कर मैं सिंहासन पर बैठा, हमारी दृष्टि में उसका चरित्र और भी गिरा देता है। फिर भी मानवोचित संस्कार का अजातशत्रु में सर्वथा अभाव नहीं है। मल्लिका की प्रसेनजित के प्रति अद्भुत क्षमाशीलता को वह देवकर्म समझता है और स्वयं क्रूरता से विरत होकर प्रसेनजित-वध और कोशल-विजय का विचार स्थगित कर देता है। उसके उत्तेजित हृदय को शान्ति प्रसेनजित की कन्या से प्रेम करने पर मिलती है। इसकी प्राप्ति की इच्छा से वासवी की शीतल छाया में विश्राम करने और इस प्रकार निज प्रेयसी-समीप

रहने का वह वहाना करता है। अपने पुत्र उत्पन्न होने का शुभ समाचार पाकर उसे पिता के हृदय का पता लगता है और तब वह वृद्ध सम्राट् से क्षमा माँग कर उनके अंतिम जीवन को शान्त और सुखी बना देता है।

विरुद्धक

निर्भीक और साहसी कोशल का राजकुमार विरुद्धक, मगध-नरेश बिंबसार के वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकारने और अजातशत्रु के राज्याधिकार पाने की बात लेकर, इस कार्य का समर्थन करते हुए अपने उत्तेजित स्वभाव के पिता प्रसेनजित से कहता है कि युवराज को राज्य-सचालन की शिक्षा देना महाराज का कर्तव्य है। राजकुमार विरुद्धक के परोक्ष संकेत को समझ महाराज अत्यंत उत्तेजित हो, उसका गर्व तोड़ने और बड़प्पन तथा महत्वाकांक्षा से पूर्ण हृदय कुचलने के उद्देश्य से उसे युवराज-पद से वंचित कर देते हैं। यह निर्वासित राजकुमार इस घोर अपमान, अनादर की पराकाष्ठा को असहनीय समझता है, परंतु कोशल देश की सीमा वह नहीं छोड़ना चाहता, क्योंकि मल्लिका नाम की एक कोमल सुंदरी से वह प्रेम करता है। मल्लिका के सौंदर्य की व्याख्या में जिस समय वह मग्न है, उसी समय उसकी माता उसे आकर ताड़ना देती और उसे 'महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्नि-कुंड मे कूदने को' प्रस्तुत देखना चाहती है। वस्तुतः विरुद्धक में सद्वृत्तियों की कमी नहीं है, पर उसके चरित्र की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उन्हें जाग्रत करने के लिए, उसे उत्तेजित और उत्साहित करके कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने का पाठ पढ़ाने के लिए, एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है। इसीलिए माता की इतनी ही ताड़ना की ठेस से मोह का परदा फट जाता है और शाक्यों से भयकर प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा कर विरुद्धक वहाँ से चल देता है। राज्य से तिरस्कृत होने पर उसके विरोधी हृदय में पिता के प्रति जो प्रतिकार-भावना उदित होती है उसका संबंध गौरव-

पूर्ण आत्माभिमान से इतना नहीं है जितना दुराचरण से। काशी में डाकूवृत्ति करने और वारविलासिनी के फेर मे पड़ जाने वाला निर्वासित युवक नवीन राज्य-स्थापन का यदि स्वप्न देखे तो इसे उसका दुस्साहस ही कहा जायगा जिसका दुखद परिणाम भविष्य में उसे देखना ही चाहिए। पिछले दृश्य मे पिता द्वारा एक छोटी सी बात के लिए तिरस्कृत होने पर पाठकों की जो सहानुभूति उसने सरलता से प्राप्त कर ली थी वही यहाँ उक्त कार्य करके 'दुर्विनीत' से दुराचारी बनकर, वह सहज ही खो भी देता है।

शैलेन्द्र की रसिकता कुछ समय के लिए उसे कर्तव्य-पथ से विचलित कर देती है। श्यामा के प्रेम मे बँधकर वह अपना अपमान तक भूल जाता है; परन्तु चेत होने पर उसका श्यामा की हत्या को प्रस्तुत हो जाना अधमता की पराकाष्ठा है, क्रूरता की चरम सीमा है। अस्तु, शैलेन्द्र नाम से डकैती करने, कोसल के सेनापति को धोखे से मारने और श्यामा का गला घोटने के पश्चात् कुमार विरुद्धक कोशल और कौशांबी की सम्मिलित सेना के मगध पर आक्रमण करने की सूचना पाकर अपने क्षत्रियत्व की परीक्षा देने के लिए अजातशत्रु से जा मिलता है। कोशल के सेनापति कारायण को भी उसने कूटनीति से फोड़ लिया है।

युद्ध हुआ। उसमें विरुद्धक घायल होता है। मल्लिका सेवा करके उसके प्राण बचाती है। नीचाशय विरुद्धक समझता है कि शायद यह मुझसे प्रेम करने लगी है। पतिप्राणा मल्लिका इस पर बुरी तरह उसे फटकारती है। श्यामा भी इसी समय उसकी विश्वासघातकता सिद्ध करने आ जाती है। अंत मे अत्यंत लज्जित होकर विरुद्धक उसके पैरो पर गिर पड़ता है। मूर्तिमती करुणा मल्लिका की क्षमाशीलता से प्रभावित होकर विरुद्धक अपनी उलटी चाल छोड़ पिता से भी क्षमा माँगता है और इस तरह पारिवारिक कलह का अंत होता है।

गौतम

बौद्ध धर्म के विश्व-प्रसिद्ध प्रवर्तक गौतम बुद्ध इस नाटक में अपने धर्म का प्रचार करते हमें मिलते हैं। मगध, कोशल आदि प्रदेशों के शासकों के पास जाकर उन्होंने मानवोचित करुणा, अहिंसा, प्रेम, जीवन की सरलता, वाणी की शीतलता और मधुरता आदि का उपदेश दिया। सबसे पहले उनका दर्शन हमें राजकीय प्रकोष्ठ में होता है। गौतम यहाँ उदासीन साधु-संतों को भी सत्य और न्याय का समर्थक बताते हैं। वे स्वयं शुद्ध बुद्धि हैं। इसलिए परोक्ष रूप से हमें उनके ही जीवन के सत्य और न्यायप्रियता का पता लग जाता है। राजा बिंबसार की छोटी रानी जब उनके सामने अपने अविचार और टेढ़े स्वभाव का परिचय देती है तब भी वे मगध-सम्राट् से उसके प्रति अधिक शीतल वाणी का उपयोग करने और मधुर व्यवहार बनाये रखने की ही बात कहकर परिवार में शांति स्थापित करना चाहते हैं। व्यंग्य को वे 'संसार के उपद्रवों का मूल' समझते हैं, क्योंकि हृदय में यह जितना चुभता है उतना कटार भी नहीं। वे स्वयं अपने बर्ताव में व्यंग्य से बचने का सदैव प्रयत्न करते हैं। वाक् संयम उनकी दृष्टि में विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है। अपनी शीतल वाणी और मधुर व्यवहार से ही उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया है, भूले भटकों को सीधा मार्ग दिखाया है। और इस प्रकार धार्मिक क्रूरता और अत्याचार का, असहिष्णुता और राजनीतिक आंदोलनों का तथा सामाजिक दुर्व्यवहार का अंत करने में वे सफल हुए हैं। गौतम सदैव अपने कर्तव्य-पथ पर निश्चल हैं। लोकापवाद की चिंता छोड़कर वे शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कार्य करते रहने को ही अपना सबसे बड़ा कर्तव्य समझते हैं। श्यामा की रक्षा करते समय भी उनकी दृष्टि लोकापवाद पर नहीं, मानवता पर ही रहती है।

उनकी देवोपम क्षमाशीलता, अलौकिक प्रेम-व्यवहार और अनुकरणीय शील का चित्रण प्रसाद जी ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। अपने समकालीन राजाओं पर उनका जो प्रभाव नाटक में दिखाया गया है उसका समर्थन इतिहासकार भी करते हैं।

प्रमुख पात्रियाँ

'वासवी'

मगध-सम्राट् बिंबसार की बड़ी रानी वासवी पति-प्रेम और सहृदयता की प्यारी मूर्ति है। सपत्नी-पुत्र अजातशत्रु के लिए भी उसके मातृ-हृदय में स्वाभाविक प्रेम है। हिले-मिले जीवो और घर के सेवकों से ही नहीं, जीव-मात्र के लिए प्रेम और दया का प्रसार करके वह परिवार को सच्चे सुख का अनुभव करते देखना चाहती है। सपत्नी छलना द्वारा अपमानित किये जाने पर भी वह उसके पुत्र अजात के युवराजाभिषेक की घोषणा का सहर्ष समर्थन करती है। अपने पति के साथ वह एक साधारण उपवन में ही रहकर जीवन के शेष दिन सुख-शांति से बिता देने को तैयार है। महाराज बिंबसार जब अजात को राज्याधिकार देकर उसे 'अपनी ही आत्मा का भोग मानकर' संतुष्ट हो जाते हैं तब वह भी संतोष की साँस लेती है। परन्तु अपने पति मगध-सम्राट् को बड़े कष्ट से भिक्षुकों और याचकों को निराश करते उससे नहीं देखा जाता। सम्राट् का यह दुःख दूर करने के लिए वह पिता द्वारा आँचल में पाये काशी-राज्य की आय सीधे महाराज के हाथ में आने का प्रबन्ध करना चाहती है। फलस्वरूप छलना की ईर्ष्याग्नि फिर भड़कती है। परन्तु वासवी ने अपने गौरवपूर्ण आचार-विचार से सर्वत्र अपने सम्मानित पद की रक्षा की। पति के संग निर्जन स्थान में सपत्नी की बंदिनी बनकर भी उसके मुख पर क्षोभ, क्रोध की एक रेखा नहीं आती। संसार के सुखों की लालसा का सर्वथा त्याग करके पारिवारिक अशांति से क्षुब्ध पति की दार्शनिक विवेचना में संतोषजनक सहयोग देने में ही वह सदैव प्रसन्न रहती है। सपत्नी छलना की प्रतिहिंसा पर उसने कभी क्रोध नहीं किया, उसके व्यंग्य-प्रहारों पर उसने कभी मुँह नहीं बिगाड़ा, उसके कटु आक्षेपों का उत्तर देने का विचार भी वह कभी मन में नहीं लाई। कह सकते हैं कि वृद्ध सम्राट् बिंबसार का साथ इस वृद्धावस्था में इसने न दिया होता तो निस्संदेह

वे पागल हो जाते। नाटक मे संघर्ष, विद्रोह, प्रवचना की उत्तेजित अग्नि को शांत करने में भी इसका बड़ा हाथ रहा है।

अपने कर्तव्य को भली भाँति समझने वाली शांत हृदया यह रमणी सपत्नी-पुत्र की पराजय और उसके बंदी होने का समाचार सुनकर विकल हो अपने प्राणपति को छोड़ कोशल जाने को तैयार हो जाती है। छलना के समझाने के लिए नारी के जो कर्तव्य उसने परोक्ष रूप से बतलाये हैं, शांत और सुखद पारिवारिक जीवन की इच्छा रखने वाली नारीमात्र के लिए वे अनमोल रत्न के समान हैं।

मल्लिका

स्त्री-सुलभ सौजन्य, समवेदना, कर्त्तव्य और धैर्य की उचित शिक्षा प्राप्त यह वीर रमणी कोशल के कुशल सेनापति बंधुल की पति-प्राणा पत्नी है। नाटक के दूसरे अंक मे हमे इसके प्रथम पुण्य दर्शन होते हैं जब हम इसके अनुराग, सुहाग और गौरवपूर्ण हृदय की बात सुन उसके सुख से सुखी हो जाते हैं। दूसरे दृश्य में ही हमे उसके सौभाग्य के नष्ट होने का अप्रिय संवाद मिलता है। लौकिक दृष्टि से यह दुखद घटना सांसारिक सुख-लता पर तुषारपात है; परन्तु नाटक में इसके पूर्व मल्लिका के वीर-चरित की जिस महानता से हम परिचित होते हैं वह इसके पश्चात् और भी विकसित और उन्नत रूप में पाठकों को चकित करती है।

पति-मृत्यु का घोर संतापकारी संवाद—वैधव्य दुःख का कठोर अभिशाप—पाने के कुछ क्षण पश्चात् ही अनुपम धैर्य-पूर्वक महात्मा गौतम के आतिथ्य का जो आयोजन करती हैं वह विश्व-मैत्री का उपदेश देने वाले इस महापुरुष की सम्मति मे भी अत्यत सराहनीय है। मल्लिका वास्तव में मूर्तिमती धर्म-परायणता है। उसका चरित्र धैर्य और कर्तव्य का आदर्श है; उसके हृदय में अखंड शांति है, अपने भयंकर शत्रु प्रसेनजित को सामने पाकर भी उसके महिमामय मुखमंडल पर ईर्ष्या या प्रतिहिंसा का एक चिह्न नही दिखाई देता। इस मूर्ति-

मती करुणा और क्षमाशीलता को देखकर किसका हृदय हर्ष से गद्गद न होगा? किसका मस्तक श्रद्धा से झुक न जायगा? उसकी क्षमाशीलता है भी तो अद्भुत और अलौकिक। अपने प्राणपति को छल से मारने का षड्यन्त्र रचने वाले की रक्षा तो वह करती ही है, स्वयं उसके घातक कुमार विरुद्धक को पाकर भी अनेक कष्ट सहकर उसकी सेवा करती और उसके प्राण बचाती है। यही नहीं, कोशल जाकर उसके पिता से उसका राज्याधिकार दिलाने को भी प्रस्तुत हो जाती है।

प्रसेनजित को क्षमा करके उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता से भरी क्षमाशीलता का जो अद्भुत—अजातशत्रु के शब्दो मे देव-कर्तव्य-सा आदर्श—मल्लिका स्थापित करती है, उसकी अंतिम परीक्षा का अवसर वह है जब स्वयं उत्तेजित कारायण 'मरणासन्न दुर्वृत्त' कोशलनरेश प्रसेनजित को मारने—संघर्षपूर्ण प्रतिहिंसा की अग्नि से जलते इस जगत की प्रतिध्वनि-सी करने—के लिये उसे प्रेरित किया चाहता है। इस समय मल्लिका के उद्गार मनुष्य-मात्र के हृदय मे विश्वमैत्री की अपूर्व शांतिदायक भावना जाग्रत करने मे समर्थ हैं। उसकी इस क्षमाशीलता से उसका अपराधी प्रसेनजित ही नहीं उत्तेजित अजातशत्रु भी बहुत प्रभावित होता है।

मल्लिका के चरित्र स प्रसाद जी का प्रधान उद्देश्य यह सिद्ध करने का जान पड़ता है कि जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं वही तो पूर्ण मनुष्यत्व है। देवत्व कल्पित होते हुए भी मनुष्य को सुधारने के लिए अद्भुत मन्त्र का काम करता है; वही तो सबका आदर्श है। मल्लिका का महान्चरित्र मनुष्यता की दृष्टि से सम्पूर्ण है; आदर्श है और जो उसके सम्पर्क मे आता है, कितना ही क्षुद्र क्यो न हो, उससे प्रभावित होता है। अपने साम्राज्य के सर्वश्रेष्ठ वीर को प्रवञ्चना और छल से मरवाने वाला प्रसेनजित, कुमंत्रणा में पड़ कर अपने माता-पिता को बन्दी बनाने वाला अजातशत्रु, प्रतिहिंसा की आग मे जलता हुआ कारायण, क्रूर कुटिल, विश्वासघाती विरुद्धक, दुराचारिणी श्यामा, सभी उसके सम्पर्क मे आते, अत्यन्त चकित होकर उसका महिमामय मुखमण्डल देखते और अत्यन्त श्रद्धा से अपना

सर उसके आगे झुकाते हैं। प्रसाद जी की यह कृति कितनी अद्भुत, अपूर्व है!

छलना

सकुचित दृष्टि और क्रूर मनोवृत्ति वाली यह स्त्री जिसकी धमनियों में लिच्छिवी रक्त बडी शीघ्रता से दौड़ता है और जिसको अपने इस कुल पर बड़ा गर्व है, बिंबसार की छोटी रानी तथा अजातशत्रु की माता है। निरीह जीवों के प्रति मानवी करुणा—अहिंसा—को वह भिक्षुकों की, उसका कटाक्ष गौतम की ओर है, भद्दी भीख समझती है जो शासकों के लिए व्यर्थ है, उपेक्षणीय है। उसका तर्क यह है कि न्याय की रक्षा के लिए शासकों को दंड देना ही पड़ता है और यह काम हिंसामूलक है। पद्मावती ने अजातशत्रु को जीवों पर दया करने की मानवोचित शिक्षा दी; यह देख छलना समझती है कि उसके पुत्र को अयोग्य शासक बनाकर वह उसका राज्य आत्मसात् कर लेना चाहती है। सपत्नी वासवी पर भी उसे विश्वास नहीं है, और अजातशत्रु के प्रति उसके वात्सल्य का तिरस्कार करती हुई निरादर के स्वर में वह उससे कहती है—आज से कुणीक तुम्हारे पास न जाने पायगा और तुम भी यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना। इस प्रकार छलना राज-परिवार में गृह-विद्रोह की आग लगा देती है। दूसरे ही क्षण राजा के पास जाकर वह गर्व भरे स्वर में अजात को युवराज बनाने की 'आज्ञा सी' देती है। छलना की दुर्बलता का परिचय पाकर भी उसके चले आने पर गौतम बिंबसार से उसकी बात मान लेने को कहते हैं। छलना अब राजमाता हो जाती है; उसे राज्याधिकार मिल जाता है। गौतम के प्रतिद्वन्द्वी भिक्षु देवदत्त ने उसे इस कार्य के लिए विशेष रूप से उत्तेजित किया है। उसकी कुटिल तथा गौतम के प्रति द्वेष भरी कुमन्त्रणा छलना को और भी नीचे गिरा देती है।

प्रतिहिंसा की आग में जलने वाली कुटिल हृदया यह नारी अपनी थोड़ी सफलता पर फूल उठती है। अजातशत्रु की प्रसेनजित पर विजय का समाचार पाते ही इसकी क्षुद्र मनोवृत्ति सपत्नी वासवी को जलाने के लिए विकल हो जाती है। इसके कुटिल व्यवहारों से एक बार तो स्वयं महाराज बिंबसार भी उत्तेजित हो उठते हैं। दूसरे ही क्षण वीर-प्रसूना होकर चक्रवर्ती पुत्र से चरण-वन्दना कराने का गौरवपूर्ण स्वप्न देखने वाली अभिमानिनी छलना अजातशत्रु की उदासीन कायरता से खीझ कर कभी तो उसे उत्तेजित करती है और कभी पति सेवा से वंचित होने पर निराशा भरे स्वर में अपनी आन्तरिक वेदना व्यक्त करती है। नारी-सुलभ कोमलता को दबाने वाली ईर्ष्या और कुटिलतायुक्त जिस अप्राकृतिक कठोरता का अभिनय वह अब तक करती आई है, आज पहली बार वह उसका साथ छोड़ती दिखाई देती है। देवदत्त और विरुद्धक के उत्तेजित करने पर यद्यपि इस समय अजातशत्रु उत्साहित होकर युद्ध के लिए तैयार हो जाता है और इस प्रकार माता की इच्छा पूरी करने का प्रयत्न करता है, परन्तु इतना निश्चित है कि इससे छलना को पूर्णतः संतोष नहीं होता। शीघ्र ही अजात के पराजित और बंदी हो जाने पर वह कूट-मन्त्रणा देने वाले देवदत्त पर भूखी सिंहनी-सी टूट पड़ती है—उसे बन्दी बनाकर वासवी का कलेजा निकलवा लेने की बात कह जाती है। उसकी दशा इस समय घायल बाघिनी से, वर्षा की पहाड़ी नदी से भी भयंकर है। कठोरता और निष्ठुरता की यही सीमा समझिये। पश्चात्, वह स्वयं अपनी असफलता पर रो पड़ती है। वह स्वीकारती है कि नारी का हृदय कोमलता का पालना है, शीतलता की छाया है, दया का उद्गम है और अनन्य भक्ति का आदर्श है। अजात के बन्दी होने पर संतान के प्रति माता की करुणा और स्नेह का स्रोत उसके मन में उमड़ता है। नारीत्व और मातृत्व की भावना उसमें जागती है। इस प्रकार उसके चरित्र का पतन और उत्थान दिखाकर नाटककार ने गौतम बुद्ध की अहिंसा और क्षमा-शीलता का महत्त्व प्रदर्शित किया है।

'शक्तिमती'

कोशल की रानी शक्तिमती महत्वाकांक्षा की मूर्ति और साहस की देवी है। उसका पद उचित है या अनुचित, यह तो दूसरी बात है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह भाग्य पर नहीं, अपनी शक्ति और चेष्टा पर विश्वास करती है—भाग्य के भरोसे बैठे रहना उसकी समझ में निस्तेज और कायर का काम है। दासी-पुत्री होने न होने में तो उसका हाथ नहीं था, पर राजरानी का पद वह अपने हठ से ग्रहण करती है। अपने पुत्र को उसने उपदेश दिया है—महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त कुंड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियो का दमन करने के लिये काल-स्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायँगी। हम समझते हैं कि उसका पति-विरोध अनुकरणीय समझा जाय चाहे न समझा जाय उसके साहस और तेज की हमारी माताओं और बहनो को आज अत्यंत आवश्यकता है।

पति द्वारा तिरस्कृता होने पर पुत्र के निरादर का प्रतिशोध लेने के वह उतावली होती है। साधनहीन होने के कारण कभी अपने भाग्य को वह दोष देती है, कभी पुत्र की अकर्मण्यता पर झुँझलाती और उसे उत्तेजित करती है और कभी कोशल के स्वामिभक्त सेनापति की कर्तव्यपरायण स्त्री के हृदय में घमंडी कोशल-नरेश के मन मे उसके पति के प्रति अविश्वास और फलस्वरूप उसके वध-संबंधी गुप्त पत्र की बात कहकर विद्रोह भावना उत्पन्न करना चाहती है। सेनापति बंधुल की मृत्यु के पश्चात् वह कोशल के नये सेनापति दीर्घकारायण को भड़काती और अपने मातुल के वध का बदला लेने को उत्तेजित करती है। अपने इस प्रयत्न में भी असफल होकर मल्लिका देवी के संपर्क से उसके हृदय में सद्भावनाओ का उदय होता है और अंत में वह पति से क्षमा माँगकर पूर्व पद पुनः प्राप्त करती है।

'मागंधी'

अपने रूप पर गर्व करने वाली मागन्धी, जिसमें निश्चयात्मक सद्वृत्ति का अभाव आरंभ से ही खटकता है, इस नाटक की प्रमुख पात्रियों में है। हँस हँस कर अपने रूप की ज्वाला में वह स्वयं जलती है और चाहती है कि जिसको वह चाहे वह भी उसी की इच्छानुसार उसी में आकर जले। एक बार वह गौतम को चाहती है, पर वे उससे विवाह करना अस्वीकार कर देते हैं। इस 'अपमान की यंत्रणा में पिसने को' वह दरिद्र कन्या कौशांवी के राजा उदयन से विवाह करती है।

राजारानी होकर भी उसे चैन नहीं है; शांति नहीं है। वह गौतम से प्रतिशोध लेने को तैयार होती है। अपनी दासी नवीना को साथ लेकर वह उदयन की दूसरी रानी पद्मावती के प्रति राजा के मन में शंका पैदा करती और पूर्व निश्चित षड्यंत्र के अनुसार पति की वीणा में साँप का बच्चा दिखलाकर यह सिद्ध कर देती है कि पद्मावती गौतम को चाहती है और उनका उपदेश सुनने के बहाने उन्हें अपने महल में किसी दूसरे उद्देश्य से रक्खे हुए है। पद्मावती के इस कपटाचरण-भरे व्यभिचार की बात सुनकर उदयन क्रोध में आकर उसको दंड देने का निश्चय कर लेता है और इस तरह मागंधी की इच्छा पूर्ण होती है।

उदयन का राजमहल जल जाने पर नाम-रूप बदल कर श्यामा बन जाने वाली, सुख की खोज मे उन्मत्त मागंधी की अतृप्त वासना और हृदय की धधकती ज्वाला का परिचय हमे उस समय मिलता है जब वह शैलेन्द्र नामक डाकू के बलवीर्य पर मुग्ध हो अपना सर्वस्व निछावर करके और प्राण देकर भी अपनी 'सत्य' स्नेह की कैसी भी परीक्षा में उत्तीर्ण होने की आशा लेकर भयंकर रात्रि में एकांत और निर्जन स्थान पर आती और अपने प्रेममय रमणीत्व की दुहाई देकर शैलेन्द्र से प्रणय भिक्षा माँगती है। पश्चात, शारीरिक सुख-लालसा के लिए पागल, प्रिय शैलेन्द्र के रूप-बल पर उन्मत्त, विलासिनी श्यामा अपनी कामलिप्सा की तृप्ति के लिए प्रतिपल विकल रहने लगती है।

उसका कोमल रमणी-हृदय इस समय अत्यन्त निर्भय और निष्ठुर हो उठा है। वारविलासिनी तो भोग-विलास को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य उसने बना रक्खा है और इस बात की उसे ज़रा भी चिंता नहीं है कि तत्संबंधी साधन जुटाने के लिए उसे कितने हृदयों को मसलना-कुचलना पड़ेगा, कितने अभागों की बलि देनी होगी और कितने कुलों को उजाड़ना होगा। अपने रूप की ज्वाला में जलने के लिए पतंग बनकर आये हुए समुद्रदत्त को अपनी सुखलालसा की यज्ञाग्नि में वह पहली बलि देती है। इसके पूर्व भी इस निष्ठुर निर्भयता की प्रसाधना की कठोरता पद्मावती के प्रति वह कौशांबी के राजमहल में दिखा चुकी है।

प्राणप्रिय शैलेन्द्र की रक्षा के लिए समुद्रदत्त का वध कराने वाली श्यामा का निश्चय ही शैलेन्द्र के प्रति सच्चा प्रेम और विश्वास है। परन्तु यही शैलेन्द्र जब उसको सोते देख उससे छुटकारा पाने और धन प्राप्त करने के लोभ में उसकी हत्या का असफल प्रयत्न करता है, तब उसकी आँख खुल जाती है। आजन्म अपने रूप पर गर्व करने वाली विलासिनी यह रमणी अन्त में शैलेन्द्र के विश्वासघात पर सचेत हो जाती है। पश्चात्, उसे हम पूर्वकालीन अनुचित कृत्यों के लिए पश्चात्ताप करती हुई प्रायश्चित्त के लिए प्रस्तुत निर्मल और परोपकारिणी नारी के रूप में देखकर संतोष की साँस लेते हैं।

नाटक में ऐसे पात्रों की सृष्टि उद्देश्य विशेष से की जाती है। मागधी की सृष्टि भी उद्देश्यरहित नहीं है। भौतिक और शारीरिक सुखों की ओर, उनकी अनित्यता की भावना और अन्ततः नश्वरता की ओर से आँख मूँदकर, उत्कट लालसामय लिप्सा लेकर बढ़ने वाले मानव मात्र को प्रिय पात्र की विश्वासघातकता, कृतघ्नता और क्षुद्रता दिखाकर सचेत करना प्रसाद जी का ध्येय जान पड़ता है। नाटक के अन्त में पश्चात्ताप की अग्नि में अपनी कलुषता-कालिमा जलाकर शुद्ध हो जाने वाली मागधी को देखकर दर्शकों के मन में ऐसे ही दार्शनिक विचारों का उदय होता है और हमारी सम्मति में यही नाटककार की अभिलाषा भी है। इस दृष्टि से मागधी का चित्रण सफल है।

स्कंदगुप्त

(प्रकाशन-काल सन् १९२८)

प्रसाद जी का सर्वप्रथम प्रसिद्ध नाटक 'स्कंदगुप्त' है। इसमें उन्होंने सात्विक भाव-सम्पन्न पात्रो का निर्माण किया है। सच्ची देशभक्ति और निस्पृह प्रेम का बड़ा सुन्दर आदर्श इसके पुरुष और स्त्रीपात्र हमारे सामने रखते हैं। सेवा, त्याग, उदारता, युद्धोत्साह की जो झलक नाटक के प्रमुख पात्र-पात्रियों में मिलती है, वह हृदय में तत्सम्बन्धी भाव उत्पन्न करके नाट्य-रचना का उद्देश्य पूर्ण कर देती है। अपने सामाजिक जीवन में उक्त भावों को हम आदर्श मान सकते हैं। इसलिए जिन पात्रों के मुख से हमें वीरता, त्याग, देशभक्ति विषयक ओजपूर्ण उक्तियाँ सुनाई देती है उन्हीं के प्रति हमारे हृदय मे सहानुभूति का भाव पैदा होता है। कह सकते हैं कि यह नाटक की सफलता का परिचायक है।

सामयिक समस्या-संबंधी संकेत—इस नाटक की एक विशेषता है कथा-प्रवाह के बीच कुशलता-पूर्वक आधुनिक समस्याओ के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण संकेत कर देना। अपने सामाजिक जीवन से उदासीन रहने वाले प्रसाद जी ने इन समस्याओ का चयन करते समय बड़ी मार्मिकता का परिचय दिया है। साहित्य को समाज का दर्पण माना गया है। इसका आशय यही है कि लेखक समाज से कितना ही उदासीन क्यों न रहे अपने युग की समस्याओं से प्रभावित होकर वह उनके सम्बन्ध मे कुछ न कुछ संकेत अवश्य करता है। प्रसाद जी के इस नाटक में हमे अनेक स्थानों पर ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे इस बीसवीं शताब्दी की भावनाओ और विचारधाराओ की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। उदाहरण के लिए धार्मिक झगड़ों वाले दृश्यों को लिया जा सकता है। यद्यपि गुप्तकालीन भारत मे ब्राह्मण और बौद्ध धर्मावलम्बियो में वैसे झगड़े हो रहे थे, इतिहास में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं और इनके दिखाने का उद्देश्य नाटक को विशेष स्वाभाविक बनाना और तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति से

परिचित कराना हो सकता है, तथापि इसके लिए प्रेरणा उन्हें कदाचित् उक्त उद्देश्यों से नहीं, वर्तमान धार्मिक झगड़ों से ही मिली होगी और इसीलिए बारबार उन्होंने इनकी निस्सारता की ओर सकेत किया है। देवसेना के गीत सुनने के लिए आए छैलछबीलो पर पर्णदत्त ने जो व्यंग्य किया है, सक्षेप मे, उसके सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक आधार—चद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के पुत्र और उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम का राज्य-काल सन् ४१५ से ४५८ तक था। अपने पिता से सुदृढ़ और सुशासित राज्य पाने के कारण वह निश्चिन्त होकर तैतालिस वर्ष तक शासन करता रहा। अपने जीवन काल मे कदाचित् केवल एक ही युद्ध पुष्यमित्रो से उसे करना पड़ा। इतिहासकारो ने उसे विलासी प्रकृति का कहा है। यह ठीक भी जान पडता है, क्योकि अश्वमेध करने पर भी उसके राज्य-काल के अंतिम वर्षों मे साम्राज्य-शक्ति क्षीण होने लगी थी।

स्कदगुप्त इसी कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र और उत्तराधिकारी था इतिहास मे उसकी माता का नाम नही मिलता; कुमारगुप्त की दूसरी रानी 'अनतदेवी' और उसके पुत्र पुरगुप्त का उल्लेख अवश्य मिलता है स्कन्दगुप्त वीरता के लिए अपनी युवावस्था और पिता के राज्यकाल मे ही प्रसिद्ध हो गया था। हूणो के आक्रमण उस समय होने लगे थे और एक बार तो उत्तर पश्चिम प्रदेश पर उनका अधिकार भी हो गया था। स्कदगुप्त ने दो एक बार पराजित होकर अंत मे इन विदेशी बर्बरों को भारत से निकाल दिया था। परन्तु साम्राज्य की अंतःकलह वह नही मिटा सका, यद्यपि इसके लिए वह आजन्म प्रयत्नशील रहा महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त के राज्य छोड़कर मालवा चले जाने का कारण भी यही आंतरिक विद्रोह था।

हूणों के साथ-साथ स्कंदगुप्त को पुष्यमित्रों की बढ़ती हुई शक्ति से भयंकर युद्ध करके विजय प्राप्त करनी पड़ी। उसके सिंहासन पर बैठने का उल्लेख भी मिलता है। पश्चात्, इसने विक्रमादित्य की

उपाधि धारण की। अपने अंत समय तक इस वीर को युद्ध ही करने पड़े। बहुत संभव है, किसी युद्ध में उसकी मृत्यु हो गई हो। इसी ऐतिहासिक आधार पर इस प्रसिद्ध नाटक की रचना हुई है।

कथा का विभाजन—प्रसाद जी ने नाटक की सारी कथा पाँच अंकों मे विभाजित की है। कला की दृष्टि से यह विभाजन इसलिए सफल कहा जा सकता है कि नाटक के प्रत्येक अंक मे कथा-विकास की एक ही अवस्था का स्पष्ट परिचय मिलता है। पाँच अंक के नाटक में कथा-विकास की पाँच अवस्थाएँ इस प्रकार रहती हैं—

(१) **आरंभ**—कथा का साधारण परिचय, स्थिति, प्रधान कार्य और समस्या, की ओर संकेत इस अंक के मुख्य विषय हैं। आर्य-साम्राज्य की छिन्नभिन्न होती स्थिति, आंतरिक और बाह्य —पुष्यमित्रों, शकों और हूणों के—सबल युद्धों और आक्रमणों की सूचना देकर, आर्य-साम्राज्य की शक्ति केंद्रित करके, उसके उद्धार की आवश्यकता बताई है। गृहकलह, राजधानी मे नित्य नए परिवर्तन, युवराज की दार्शनिकता और कल्पना-प्रियता आदि के साथ साथ बाहरी आक्रमण-कारियों की नित्यप्रति बढ़ती शक्ति आदि बातें उक्त कार्य की सिद्धि में बाधा-रूप हैं।

(२) **कथा का विकास**—दूसरे अंक मे नायक प्रधान कार्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। विपक्षी भी विरोध के लिए तैयार होते और अपनी शक्ति बढ़ाते हैं। फलस्वरूप संघर्ष बढ़ता है और परिणाम स्पष्ट नहीं हो पाता। स्कंदगुप्त इस अंक मे आंतरिक विद्रोहियों को पराजित कर लेता है—बाहरी शक्ति से अभी सामना ही नहीं होता—परन्तु प्रथम दृश्य मे ही जिस नायक को हम उदासीन देखते हैं, अंतिम मे विजया के व्यवहार से जब उसी का हृदय टूट जाता है, तब उसके भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध मे हम दुविधा मे पड़ जाते हैं।

(३) **चरम सीमा**—नायक-पक्ष तीसरे अंक में प्रधान कार्य को पूरा करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। विरोधियों की शक्ति यहाँ से छिन्न भिन्न होने लगती है और उनका अंतिम प्रयत्न शेष रह

प्रेम-कथा का विकास :—

नाटक की मूल कथा का इस प्रकार प्रभाजन करके नाटककार जहाँ इसका निरंतर विकास दिखाता है वहाँ पात्रों के हृदय पक्ष की कोमलतम भावना का दिग्दर्शन करा कर उनके चरित्र और स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रगति का परिचय भी उसने बराबर दिया है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य मे एक अपरिचित युवती की ओर स्कंदगुप्त साश्चर्य देखता है। दूसरे अंक मे यह युवती, विजया के प्रति उसके आकर्षण का हमें परिचय मिलता है। प्रेम की इस कहानी को आगे बढ़ाने के लिए नाटककार बड़ी कुशलता से विजया के मन में यह संदेह उत्पन्न कर देता है कि देवसेना 'उसके' स्कंदगुप्त की ओर आकर्षित है। मालवेश के सिंहासन समपर्ण से उसके इस संदेह की यों पुष्टि होती है कि 'उसके' स्कंदगुप्त को देवसेना के लिए 'निश्चित' करने का यह प्रयत्न किया जा रहा है। फलस्वरूप बिना अधिक सोच विचार किए ही वह सबके सामने स्वीकार करती है—मैंने भटार्क को वरण किया है।

विजया की यह चंचलता दो मर्मस्थलों को आघात पहुँचाती है। स्कंदगुप्त को उससे बड़ा दुख पहुँचता है और उसका दुःख देख कर, विजया के प्रति उसके आकर्षण का परिचय पाकर, देवसेना भविष्य मे अपनी प्रेमवृत्ति पर अत्यंत कठोर नियंत्रण रखने का निश्चय करती है। युद्ध मे इसी समय परास्त होकर स्कंदगुप्त देवसेना से संबंध स्थापित करके एकांत जीवन बिताने की इच्छा प्रकट करता है। देवसेना एक तो अपने पूर्व निश्चय के अनुसार और दूसरे, स्कंदगुप्त के कथन से उसके अकर्मण्य हो जाने की आशंका से, अत्यन्त संयत शब्दो मे उसे रोकती है। इसी प्रसंग मे स्कंदगुप्त आजीवन कुमारव्रत धारण करने की प्रतिज्ञा कर लेता है। कुछ क्षण पश्चात ही विजया आती है और अपने रत्नगृहों का प्रलोभन देकर स्कंदगुप्त का प्रेम खरीदना चाहती है। तभी भटार्क आकर उसे ताड़ना देता है और वह आत्म-हत्या कर लेती है। फलतः स्कंदगुप्त अकेला रह जाता

है। मानव जीवन के भाग्य की ओर एक व्यंग्यपूर्ण संकेत करके इस प्रकार यह प्रेम प्रसंग समाप्त होता है।

प्रधान कार्य—अनंतदेवी और भटार्क के कुचक्र से राजशक्ति विलोड़ित और छिन्न भिन्न हो जाती है; विजयोन्मत्त हूणों के पाशविक अत्याचारों से प्रजा त्राहि त्राहि कर उठती है; देश की शांति और संस्कृति सुरक्षित नहीं है। इस आंतरिक और बाह्य उपद्रवों को शांत करके आर्य साम्राज्य का उद्धार करना और पश्चात उसकी नींव सुदृढ़ कर देना इस नाटक का प्रधान कार्य है, कदाचित जिसकी महत्ता का अनुमान करके ही प्रसाद जी ने स्कंदगुप्त को कल्पनाप्रिय दार्शनिक युवक के रूप में दर्शकों के सामने उपस्थित किया है। अपना जीवन वह अकेला मानता है और इसीलिए सुख-साधनों की उसे चिन्ता नहीं है आवश्यकता भी नहीं है। परन्तु यह निश्चिंतता उसे अकर्मण्य नहीं बना पाती; प्रत्युत वह ऐसा वीर सैनिक है जिसे अपने कर्तव्य का, अपने अधिकार का बराबर पूर्ण ध्यान रहता है। यही उसके चरित्र की वह विशेषता है, जिसके बल पर संकटापन्न आर्य-साम्राज्य का वह उद्धार करता और उसकी शक्ति सुदृढ़ बनाता है।

नायक कौन—नाटक का नामकरण स्कंदगुप्त के नाम के आधार पर किया गया है। इससे प्रसाद जी की इच्छा स्कंदगुप्त को ही नायक मानने की जान पड़ती है। नेता के आदि से अंत तक आधिकारिक कथा-वस्तु का घनिष्ठ संबंध भी स्कंदगुप्त से बना रहता है, प्रासंगिक बातों में भी परोक्ष रूप से उसका हाथ है। उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व नाटक के अन्य पात्र-पात्रियों को मुग्ध करता है तथा दर्शक-पाठकों की पूर्ण सहानुभूति भी उसी के साथ रहती है। अनंतदेवी, भटार्क, प्रपंचबुद्धि इत्यादि विरोधियों को पराजित करके वह गृह-कलह शांत करता है और अत्याचारी हूण शासकों को नीचा दिखाकर करता है देश में शांति की स्थापना। मानवता की दृष्टि से उसका सुख त्याग उसके चरित्र को और भी ऊपर उठाता जाता है। अपने बाहुबल से जिस आर्य-साम्राज्य का उसने उद्धार

किया, जिसकी शक्ति को केंद्रित और सुदृढ़ बनाया उसी को अपनी ही इच्छा से विमाता-पुत्र को सौंप देना कितना महान उत्सर्ग है! नाटक के प्रमुख पात्र को इस प्रकार त्यागी बनाने का विचार प्रसाद जी को कदाचित स्कंदगुप्त की कोमल आंतरिक भावना पर होने वाले निराशाकारी आघातों से—विजया की ओर से प्रथम और देवसेना की ओर से द्वितीय—मिला होगा। दार्शनिकता और कल्पना के लोक में विचरने वाले युवक का कोमल हृदय ऐसी ठेस लगने के बाद भी कर्तव्य-भाव की प्रेरणा से—अत्याचारी हूणों को पराजित करके अपने साम्राज्य के उद्धारार्थ—कुछ काल तक सांसारिकता में अवश्य लगा रहा होगा; परन्तु उसमे कोई स्निग्धता, कोई रोचकता शेष नहीं होगी। भग्नहृदय स्कंदगुप्त के लिए कर्तव्यपालन के पश्चात् राज्य-लक्ष्मी और तज्जनित सुख-साधनों के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता और वह सहर्ष सिंहासन त्याग एकाकी जीवन बिताने लगता है। ये सभी विशेषताएँ उसके चरित्र को ऊपर उठाने और उसे ही नाटक का नायक घोषित करने वाली हैं।

सुखांत या दुखांत—स्कंदगुप्त के दुखांत या सुखांत होने की विवेचना की जाय तो बहुमत प्रथम के ही पक्ष में होगा। यह ठीक है कि कला की दृष्टि से नाटक का नायक स्कंदगुप्त अपने प्रयत्न में सफल होता है और प्रधान कार्य—आर्य-साम्राज्य के उद्धार और उसकी पुनः सशक्त स्थापना—में उसे पूर्णतः सिद्धि मिलती है; तथापि विजयी पक्ष उससे किसी प्रकार सुखी नहीं हो पाता। प्रधान पात्र स्कंदगुप्त कभी वृद्ध पर्णदत्त की याद करता है, कभी स्नेहमयी माता की स्मृति मे आँसू बहाता है, और कभी प्रियबंधु बंधुवर्मा के लिए शोक में डूब जाता है। विजया उसका हृदय पहले ही तोड़ चुकी है और देवसेना की दार्शनिक बातें भी उसे संतुष्ट नहीं कर पातीं। नाटक के अंतिमांक मे समस्त संघर्ष का अंत हो जाता है। यहाँ भी बाह्य हलचल समाप्त हो चुकी है; परंतु हृदय के अंतर्तम प्रदेश का द्वंद्व वातावरण को शांत बनने ही नहीं देता। स्कंदगुप्त और देवसेना, नाटक के प्रधान पुरुष और स्त्री पात्र दोनों ही यहाँ दुखी हैं—स्कंद तो अपना दुःख दबा ही नहीं पाता,

देवसेना अवश्य किसी तरह दार्शनिक विचारधारा में डूब अपना मन बहलाती है। इन दोनों के दुःख से वातावरण अशांत है; दर्शक भी प्रसन्न नहीं हैं। यवनिका-पतन के साथ स्कंदगुप्त की तरह ही वे भी एक ठंडी साँस लेकर अपनी जगह से उठते हैं।

ऐसी स्थिति में नाटक को दुःखांत कहा जा सकता है, सुखांत नहीं। नाटककार का उद्देश्य भी कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। नाटक का सबसे मार्मिक दृश्य, जिसमें दो भग्नहृदय न जाने कितनी विवशता से हृदय पर पत्थर रखकर अपने सिद्धान्तों का पालन कर रहे हैं, प्रसाद जी ने केवल देवसेना के चरित्र का पूर्ण विकास दिखाने के उद्देश्य से, जैसा कुछ आलोचकों का अनुमान है, नाटक के अंत में नहीं रखा है। यह काम तो इसे दो एक दृश्य पहले रखकर भी हो सकता था। परन्तु पहले देने से नाटक का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता—वह सुखांत-सा प्रतीत होने लगता; क्योंकि तब अंतिम दृश्य में स्कंदगुप्त के त्याग की कहानी होती और उसे सुनकर दर्शकगण नायक की प्रशंसा करते हुए उठते, उसकी आहों में अपनी ठंडी साँसें मिलाते नहीं। नाटक में आदि से अंत तक कदाचित् एक भी पूर्ण सुखद और हर्ष-कारी दृश्य नहीं है, प्रत्युत प्रथम से अंतिम तक संकटापन्न मानव जीवन की तरह शोक की एक स्पष्टास्पष्ट रेखा खिंचती चली गई है। अतः स्कंदगुप्त को दुःखांत मानना ही उचित जान पड़ता है।

स्वगत का प्रयोग—प्रसाद जी के इस नाटक में यद्यपि पाँच छः स्थलों पर ही विजया, देवसेना और भटार्क से दो दो, एक-एक 'स्वगत' भाषण कहलाए गए हैं, तथापि प्रयत्न करने पर कथा-विकास में बिना कुछ अन्तर के ही इनसे मुक्ति हो सकती थी। कारण यह है कि इनमें कदाचित् एक भी स्थल ऐसा नहीं है जो मात्र मानसिक संघर्ष की ऐसी अवस्था से निकला हो कि जिसके अव्यक्त रहने से कथा-प्रसंग में बाधा पड़ती। पर हाँ, इसमें संदेह नहीं कि अन्यत्र पात्र-पात्रियों के मानसिक विचारों को उन्होंने 'स्वगत' कथन द्वारा नहीं, हाव-भावपूर्ण संकेतों के कलापूर्ण ढंग से ही व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

राष्ट्रीयता की भावना—अपने नाटक की कथा के लिए प्रसाद जी ने भारतीय इतिहास का प्रायः वह भाग चुना है जब हमारे देश पर विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे और भारत को सम्मिलित शक्ति छिन्न भिन्न होने के कारण शत्रुओ का सामना करने में असमर्थ थी। एक ओर ये आक्रमणकारी नित्य-प्रति बढ़ते हुए अपने बाहुबल, बुद्धिबल और अर्थबल के बल पर उन्मत्त हो रहे थे और दूसरी ओर भारत आंतरिक विद्रोह, पारस्परिक कलह और हीन स्वार्थवृत्ति के कारण सशक्त होते हुए भी बार बार पराजित हो रहा था। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार प्रायः दो रूपो में किया जाता है—एक, जातीय अभिमान और गर्व-गौरव की महत्ता, स्वातंत्र्य की पुण्य भावना और पूर्व पुरुषों की वीरता के ओजमय गीत गाकर; दूसरे, पारस्परिक प्रेम और सगठन के महत्व तथा तज्जनित सुख-शांति को ओर उनका ध्यान आकर्षित करके। प्रसाद जी के नाटकों में राष्ट्रीयता के दोनो रूप मिलते हैं; स्थिति को दोनो की आवश्यकता भी थी। अतएव नाटको मे स्वाभाविकता लाने के लिए दो एक पुरुष-स्त्री पात्रो को देशभक्त बनाना अनिवार्य था। 'चंद्रगुप्त' नामक नाटक मे सिंहरण, चंद्रगुप्त, अलका इत्यादि के हृदयों में देश-भक्ति का अपूर्व स्रोत प्रवाहित हो रहा है; 'स्कंदगुप्त' में पर्णदत्त, बधुवर्मा, भीमवर्मा, देवसेना, जयमाला और स्कंदगुप्त सभी स्वतंत्रता के पुजारी हैं; उसकी रक्षा के लिए हँसते हँसते मर मिटने को देश-प्रेम की बलिवेदी पर चढ़ जाने को तैयार हैं। 'अजातशत्रु' नाटक में कथावस्तु को उक्त नाटकों की-सी देशभक्ति की आवश्यकता न होने पर भी कोशल सेनापति बंधुल 'बर्बर विदेशियो' का दमन करके वीरता का उदाहरण सामने रखता है।

इन नाटकों मे बिखरे राष्ट्रभक्ति और देश-प्रेम-व्यंजक प्रसाद जी के विचारो का मूल्य उस समय और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि देश की वर्तमान स्थिति में, जो अंशतः इन नाटकों की-सी से मेल खाती हैं, उनके प्रचार की आवश्यकता ज्यों की त्यों—कहीं कहीं और किन्हीं किन्हीं विचारों की तो उससे भी अधिक बनी है।

स्वदेश गौरव के भावों से ओत-प्रोत पात्रों की सृष्टि प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी वांछनीय आस्था और स्वाभाविक प्रेम के कारण की थी। चंद्रगुप्त, सिंहरण, पर्णदत्त, बंधुवर्मा, स्कंदगुप्त कमला, अलका आदि पात्र-पात्रियाँ देश की स्वतंत्रता की रक्षा करने में समर्थ हो सकीं। आज के युवक-युवतियाँ देश की खोई स्वतंत्रता की पुनः प्राप्ति के लिए इन्हें अपना आदर्श, उनके विचारों और भावों को अपने सिद्धांत वाक्य बनाकर अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर हो सकती हैं। भारतीय संस्कृति, विश्व-प्रेम की कल्याण-भावना और जीवन-संघर्ष की व्याख्या के लिए प्रसाद जी के नाटकों का जो कुछ महत्त्व है सो तो है ही, परन्तु सामयिकता की दृष्टि से स्वातंत्र्य प्राप्ति-संबंधी इन नाटकों में व्यक्त मूल मंत्रों का अध्ययन और भी अधिक आवश्यक है। भारतीयता के परमभक्त, राष्ट्रीयता के अनन्य पुजारी की पुण्यात्मा को, हम समझते हैं, इससे पर्याप्त शांति मिलेगी।

समीक्षा—प्रसाद जी के नाटकों में 'स्कंदगुप्त' का कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भारतीय और पाश्चात्य, दोनों शास्त्रीय सिद्धांतों का सम्मिश्रण मिलता है और दोनों दृष्टियों से [illegible] इसकी रचना में पर्याप्त सफलता मिली है। भारतीय और पाश्चात्य, दोनों नाट्य शैलियों में एक प्रधान अंतर यह है कि प्रथम के अनुसार नाटक में रस का पूर्ण परिपाक होना चाहिए, पर पाश्चात्य [illegible] जीवन में भौतिक सिद्धि [illegible] कार्यशीलता को नाटक का प्रधान तत्त्व समझते हैं। प्रस्तुत नाटक में [illegible] विविधता और [illegible] के स्वतंत्र व्यक्तित्व-निर्माण के आदर्श की रक्षा के [illegible] अनुकूलता तो है ही, प्रमुख पात्र-पात्रियों की [illegible] भावनाओं की कोमल अभिव्यंजना से [illegible] और रसपूर्ण हो गया है।

इस नाटक में एक दोष बताया गया है कि प्रसाद जी की दार्शनिकता ने उसे आवश्यकता से अधिक साहित्यिक बना

दिया है। वस्तुतः इसको हम अस्वाभाविक नही कह सकते। काव्यात्मकता और दार्शनिकता की बहुत गहरी छाप के आक्षेप से बचने के लिए प्रसाद जी ने तैयारी कर ली है। सब से पहले तो इसका नायक ही दार्शनिकता और कल्पना के लोक मे विचरण करता है; फिर मातृगुप्त तो कवि ही है। प्रसाद जी के अन्य किसी नाटक मे कदाचित् ऐसे दो पात्र इन विशेषताओ से इतना युक्त नही मिलेंगे। ऐसी स्थिति में स्कंदगुप्त को साहित्यिकता और दार्शनिकता के आधिक्य को देखकर आश्चर्य करने का कोई शास्त्रीय कारण नही हो सकता।

रस—भारतीय नाटक-रचना-प्रणाली मे सब से प्रधान तत्व रस माना गया है। अन्य तत्वों की सार्थकता यही है कि वे रस की पूर्ण निष्पत्ति मे सहायक हो। इस नाटक की कथा मे युद्धों की प्रधानता है। नायक स्कन्दगुप्त स्वयं बड़ा वीर है; वीरोचित सभी गुण उसमे वर्तमान हैं। आदि से अंत तक उसका जीवन संघर्ष मे बीतता है। इसलिए नाटक का प्रधान रस वीर है। स्कंदगुप्त के चरित्र की दूसरी विशेषता उसका कल्पना-प्रधान दार्शनिक होना है; संसार के ऐश्वर्य को वह नश्वर और हेय समझता है। आरम्भ में वह शांति संदेश-वाहक दार्शनिक के रूप मे हमारे सामने आता है। कथा की प्रगति के साथ कर्मवीर की तरह विभिन्न प्रयोग करके अन्त मे वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि फल के प्रति उदासीन होकर सुख भोगने की कामना और सुख-साधनो का त्याग करना ही मानव जीवन का सबसे महत्व-पूर्ण कार्य है। त्याग और उदासीनता का फल अंततः शान्ति होता है। इस नाटक में भी अन्त मे संघर्ष का अन्त हो जाता है। फलस्वरूप स्कन्दगुप्त के आदि और अवसान मे शान्त रस की प्रधानता है। वीर और शान्त रसों की दो धाराएँ नाटक मे कथा की प्रगति के साथ चलती हैं और अन्त तक पहुँचते पहुँचते, संघर्ष के समाप्त होने पर प्रथम की अप्रधानता और द्वितीय की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है।

गीत—'स्कन्दगुप्त' में प्रसाद जी के छोटे बड़े १६ गीत हैं। स्थिति की स्वाभाविकता की दृष्टि से उनके निम्नलिखित वर्ग किए जा सकते हैं—

१ नर्त्तकियों के गीत—दो। एक कुसुमपुर के राजमन्दिर में और दूसरा भटार्क के शिविर में।

२ एकांत में कवि अथवा किसी अन्य पात्र-पात्री द्वारा जो भावावेश में अपने उद्गार व्यक्त करने को विवश हो जाती है—चार। इनमें प्रथम में कवि मातृगुप्त, द्वितीय में विजया, और अन्तिम दो में देवसेना अपने हृदय की वेदना व्यक्त करती है।

३ ईश प्रार्थना—तीन। पहली मातृगुप्त के साथ मुद्गल, दूसरी स्कंदगुप्त और तीसरी देवसेना करती है।

४ प्रेम का महत्व समझाने वाले गीत—तीन। एक देवसेना विजया को सुनाती है और दूसरा, सखी देवसेना को। तीसरे मे विजया ने सुखभोग की आवश्यकता और साधनों पर प्रकाश डाला है। यह गीत वह स्कन्दगुप्त को सुनाती है।

५ राष्ट्रीयता सम्बन्धी—एक। भारत-महिमा का गान करने के उद्देश्य से मातृगुप्त गाता है। नाटक का यह सबसे बड़ा गीत है।

६ नेपथ्य से विषय के अनुकूल शान्ति-संदेश-वाहक अथवा दार्शनिक भावयुक्त गीत—दो। प्रथम बन्दीगृह में देवकी को सुनाई देता है और दूसरा जीवन की नश्वरता का गीत विजया और देव-सेना को सुनाई देता है।

७ शेष—एक। यह गीत युद्ध के समय देवसेना गाती है; कारण उसका संगीत प्रेम है जो कुछ पात्रों की दृष्टि में 'रोग-रूप' है।

विषय की दृष्टि मे ये १६ गीत साधारण रूप से तीन भागो में रखे जा सकते हैं—

१ दार्शनिक विवेचना प्रधान गीत। प्रसाद जी को दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयों से वड़ी रुचि थी और तत्सम्बन्धी अध्ययन भी उनका पर्याप्त था। यही कारण है कि अनेक सुन्दर गीतों मे तो दार्शनिकता की छाप है ही। कई स्थलों पर गद्य में उसकी विवेचना इस सुन्दर ढग से की गई है कि वे भी गद्य-काव्य-सा आनन्द देते हैं।

२ प्रेम, वेदना, सौंदर्यासक्ति आदि मनोभावों और अन्तर्वृत्तियों की व्याख्या करने वाले गीत। स्कन्दगुप्त मे ऐसे गीतों की संख्या सब से अधिक है और कला की दृष्टि से देवसेना और मातृगुप्त के तत्सम्बन्धी कथन बहुत मार्मिक हैं।

३ देश-प्रेम-सम्बन्धी रचनाएँ। स्कन्दगुप्त के अन्त मे मातृ-गुप्त की कविता मे भारत-महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया गया है। ईश-प्रार्थना-सम्बन्धी तीनों गीतों का सम्बन्ध भी इसी वर्ग की कविताओ से समझना चाहिए।

नाटकीय स्वाभाविकता की दृष्टि से केवल चार गीत खटकने वाले हैं। पहला युद्ध के समय देवसेना का गीत है जिसका विषय समया-नुकूल नही कहा जा सकता। परन्तु देवसेना के गाने के रोग की बात कह कर नाटककार ने इसे आक्षेप से बचाना चाहा है। नेपथ्य से देवकी विजया और देवसेना को सुनाई देने वाले गीतों को विषय की अनुकूलता की दृष्टि से महत्व भले ही दिया जाय, परन्तु उनकी विशेष आवश्यकता नही कही जा सकती। अन्तिम अनुपयुक्त गीत विजया का है जो उसने स्कन्दगुप्त को सुनाया है। देवसेना के सामने आजीवन कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा करने वाला स्कन्दगुप्त का पल भर बाद ही विजया का लम्बा-चौड़ा गीत सुनने लग जाना हमें तो अस्वाभाविक ही लगता है। जिस विजया की ओर से स्कन्दगुप्त पहले ही निराश हो चुका है, पूर्व प्रेमिका होने के नाते भी उसकी इतनी बातें तत्कालीन स्थिति में स्वीकारी नहीं जा सकतीं।

दृश्यों का साहित्यिक महत्व

प्रथम अंक

दृश्य १—इस नाटक में प्रस्तावना नहीं है। प्रथम अंक ही प्रस्तावना के रूप मे है जो नाटक के अन्दर दिखाई जाने वाली घट-नाओ का परिचय दे देता है। इस दृश्य में नाटककार ने मुख्यतः

उस पर कुछ संदेह है। उसका संकेत समझ कर सम्राट् कुमारगुप्त भटार्क का निवेदन अस्वीकार कर देते हैं। भटार्क वीर योद्धा है। वह उस घटना मे अपना अपमान समझता और आगे शत्रुता करने को तैयार हो जाता है।

दूसरी बात है सम्राट् कुमारगुप्त की विलास-प्रियता से पाठकों को परिचित कराना। साम्राट् वृद्ध हो गए हैं; फिर भी उनकी विलास-कामना शान्त नहीं होती। उनके चरित्र की इस कमजोरी ने ही उन्हें छोटी रानी अनन्तदेवी के हाथ की कठपुतली बना दिया है। धीरे धीरे वे उसके इशारे पर नाचने को बाध्य हो गए। इस प्रसंग ने नाटक के कथानक को प्रगति में बहुत सहायता पहुँचाई है।

तीसरी बात है विदूषक मुगल की सृष्टि। गम्भीर प्रकृति के नाटककार ने विदूषक से हमारा परिचय सम्राट् कुमारगुप्त के राज-मन्दिर में कराया है। जहाँ आनन्द का स्रोत बह रहा है, नाच गाना हो रहा है।

दृश्य ३—कथानक के विकास की दृष्टि से इस की सामग्री के सम्बन्ध मे केवल इतना कहा जा सकता है कि नाटककार ने पिछले दोनों दृश्यों का सारांश तीसरे मे दे दिया है। सम्राट् कुमारगुप्त की स्त्री-परायणता की ओर नाटककार ने पाठको का ध्यान विशेष रूप मे आकर्षित किया है। कविता और दार्शनिकता-सम्बन्धी जो विचार इस दृश्य मे प्रकट किये गए हैं, युद्ध-काव्य की दृष्टि से महत्व-पूर्ण होते हुए भी नाटक के विकास मे उनसे कोई सहायता नहीं मिलती। हाँ, कवि की दाशनिक-प्रवृत्ति का परिचय इनसे अवश्य मिल जाता है।

दृश्य ४—विद्रोहियो के कुचक्र से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों में यह सर्वप्रथम है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण बात है अनन्तदेवी की वह साहसिकता जो शेक्सपियर की लेडी मैकबेथ की उत्तेजित साहसी वृत्ति से बहुत कुछ मिलती जुलती है। भटार्क की एकता उसकी शक्ति को और भी बढ़ा देती है। भिक्षु प्रपंचबुद्धि के सहयोग से उसे

बौद्धो का समर्थन प्राप्त हो जाता है। इन कुचालियों को देख और अनन्तदेवी के मुख से क्रान्ति की शीघ्र उपस्थिति की सूचना पाकर पाठको की उत्सुकता बढ़ जाती है।

दृश्य ५—यह वर्णन-प्रधान दृश्य है। आरम्भ में प्रकृति की भयानकता और रात का अस्वाभाविक अन्धकार दिखाकर नाटककार उस रात्रि मे होनेवाले भयंकर कृत्यों की ओर परोक्ष संकेत करता है। इस दृश्य में वर्णित घटनाएँ भी भयानक और दुखप्रद ही हैं। कुचक्री अपने प्रयत्न में सफल होते हैं। तीन स्वामिभक्त सेवक आत्महत्या कर जान देते हैं। पुरुगुप्त से जो वीर और दार्शनिक स्कंदगुप्त का प्रतिद्वंद्वी है, हमारा प्रथम परिचय इसी दृश्य में होता है। उसके एक ही वाक्य से उसके चरित्र के ओछेपन का पता लगता है कि स्वभाव का यह बहुत बुरा नहीं है, केवल प्रतिहिंसा के कारण वह अपने आचरण से गिर रहा है।

दृश्य ६—इस दृश्य के मुख्य दो उद्देश्य हैं। पहला है नाटक के आरम्भ में वर्णित हूणो के आक्रमण का ध्यान दिलाकर उनके अत्याचारो से; और दूसरा, पुष्यमित्रों वाले युद्ध के निर्णय से अपने पाठकों को परिचित कराना। पिछले उद्देश्य में नाटककार सफल हुआ है। परन्तु हूणो के आक्रमण का चित्र इतना स्पष्ट और करुण नहीं हो पाया कि पाठकों की सहानुभूति आकर्षित कर सके। सम्भव है, इसका कारण प्रसाद जी की सहृदयता और कविजनोचित कोमलता हो। दृश्य के आदि का विनोदाभास स्थिति के विशेष अनुकूल नही है। हूणों के आक्रमण जब खूब बढ़े हुए थे तब आक्रमणकारियो के समीप रहकर भी इस तरह का खिलवाड़ बहुत अच्छा नहीं है। दृश्य के अन्तिम दो-तीन वाक्य भी निरुद्देश्य और व्यर्थ जान पड़ते हैं।

दृश्य ७—नाटक के प्रथम वाक्य मे जितनी बातों की ओर संकेत किया गया है उन सबके विषय में इस दृश्य के पूर्व कुछ न कुछ झलक मिल जाती है; केवल शरणागत की रक्षा करते हुए मालवनरेश की सहायता का चित्र देखना शेष था। यही प्रथम अंक

के इस अंतिम दृश्य का विषय है। वीररस का यह सबसे सुन्दर दृश्य है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है जयमाला और देवसेना के वीरता-संबंधी आंतरिक हृदयोद्गार। जयमाला वीर-स्त्री अवश्य है, परंतु उसमें सहृदयता के साथ-साथ कुछ कठोरता भी है। देवसेना वीर-कन्या है, परंतु उसे संगीत से इतना प्रेम है कि उसे रोग समझा जाने लगा है। उसके चरित्र की यह विलक्षणता विशेष महत्त्व रखती है। नाटक के अंत में जो अनुपम उत्सर्ग दिखलाया गया है उसकी नींव में उसके स्वभाव की यही विलक्षणता समझनी चाहिए।

युवराज स्कंदगुप्त इस दृश्य में हमे दूसरी बार फिर मिलता है। उसने आकर मालव की रक्षा की है। नाटककार ने अंत तक हमारी उत्सुकता बढ़ाने के बाद हमे उसका दर्शन कराया है। इस समय प्रसाद जी स्कंदगुप्त और विजया के पारस्परिक आकर्षण की ओर सुन्दर संकेत करते हैं, मानों युवराज को वीरता का पुरस्कार मिला हो। इससे पाठको की उत्सुकता भी बढ़ती है।

द्वितीय अंक

दृश्य १—काव्य की मधुरता और भावों की सुकुमारता की दृष्टि से यह दृश्य सुन्दर है। मातृगुप्त के काव्यसबंधी जो उद्गार प्रसाद जी ने प्रथम सर्ग में व्यक्त कराए हैं, वे काव्यकला की दृष्टि से उच्चकोटि के होते हुए भी ऐसे पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं जिसका नाटक के मूल कथानक से विशेष संबंध नहीं है। परंतु इस दृश्य में व्यक्त विचारों से नाटक के कई पात्रो के चरित्र का विश्लेषण हो जाता है। इसकी दूसरी विशेषता है नाटक के अनेक प्रमुख पात्रों की मानसिक स्थिति-दिग्दर्शन का प्रयत्न। प्रथम अंक क अंत में देवसेना एक वीर-नारी के रूप मे हमारे सामने आती है। इस दृश्य मे हम उसे सूक्ष्मदर्शी अनुभवी युवती के रूप में देखते और उसके विचारो से प्रभावित होते. है। विजया एक सहृदय परंतु भोली भाली युवती सी मालूम पड़ती है, जो हृदय के रहस्य से अभिज्ञ है। स्कंदगुप्त का चरित्र भी हमारे सामने एक नए ढंग में आता है।

नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में हमें वह निस्पृह परंतु वीर सैनिक के रूप में दिखाई देता है। यहाँ हम उसे अपने जीवन से जैसे ऊबा हुआ पाते हैं।

प्रथम दृश्य मे उसे उत्साहित करने के लिए पर्णदत्त की आवश्यकता होती है और इस दृश्य मे चक्रपालित उसे उत्तेजित करता है। अंत में भावी परिस्थितियाँ उसे युद्ध करने के लिए विवश कर देती हैं।

दृश्य के अंत मे बंधुवर्मा का आगमन होता है। स्कंदगुप्त की वीरता और गुणों पर वह मुग्ध है। देवसेना का ध्यान भी वह उसकी ओर आकर्षित करना चाहता है। यद्यपि उसका कारण स्पष्ट नहीं होता, परतु उसके प्रयत्न मे अत्यंत मधुर भाव निहित है। सारांश यह है कि यह दृश्य कई दृष्टियो से महत्व का है।

दृश्य २—यह दृश्य कथा प्रधान है। कुचक्रियों ने अपने उद्देश्य की सफलता के लिए क्या कार्य सोचा है, हमे इसमे यही मालूम पड़ता है। इस दृश्य में सबसे बड़ी विशेषता है शर्वनाग का चरित्र। प्रथम अक मे हम उसकी वीरता से परिचित होते हैं। यहाँ हमें उसके चरित्र की दुर्बलता और अस्थिरता का पता लगता है। इन्हीं के कारण वह कुचक्रियो के जाल में फँसकर उनकी इच्छानुसार कार्य करने की प्रतिज्ञा कर लेता है। दृश्य के अंत में युवराज के आने की सूचना देकर नाटककार देवकी के भावी हृदयोद्गार जानने के लिए बड़ी कुशलता मे उत्सुक बना देता है।

दृश्य ३—शर्वनाग की स्त्री रामा का चरित्र इस दृश्य में विशेष आकर्षक है। उसकी स्वामिभक्ति से नाटककार ने हमें प्रथम अंक में ही परिचित करा दिया था। शर्वनाग इस दृश्य में नशे में है। उसके चरित्र की दुर्बलता के दर्शन यहाँ भी होते हैं।

दृश्य ४—स्कंदगुप्त की माता देवकी के प्रथम दर्शन ने इस अंक को प्रधानता प्रदान की है; सत्य ही नाटककार ने राजमाता का विशाल हृदय देकर उसे हमारे सामने उपस्थित किया है। देवकी के

हेय विचारों ने उसका चरित्र और भी आकर्षक बना दिया है। शेष बातें वर्णन से संबंध रखती हैं।

दृश्य ५—जयमाला और बन्धुवर्मा के चरित्रों से हमें परिचित करना इस दृश्य का उद्देश्य है। बन्धुवर्मा की गुणग्राहकता और श्रद्धा-सम्बन्धी जिन विचारों से हम पहले परिचित हो चुके हैं, उन्हीं को यहाँ कार्यरूप मे दिया गया है। जयमाला वीर स्त्री अवश्य है; परन्तु उसके विचारों में स्थिरता नही है। नाटक की मूल कथा के विकास में जयमाला विशेष योग नहीं देती। अतः उसके विचारों के संघर्ष से जहाँ तक बन्धुवर्मा के चरित्र और निश्चय, त्याग और दृढ़ता की परीक्षा होती है वहाँ तक ही हम उनकी सार्थकता समझते हैं, इसके आगे नही।

दृश्य ६—भटार्क की माता कमला का चरित्र इस दृश्य की विशेषता है। विजया के विचारों में यहाँ आकर परिवर्तन होता है और वह प्रतिहिंसा की आग में अपनी प्रीति के प्रथम अंकुर को भी झुलसा डालती है। पाठक इस परिवर्तन से आश्चर्य में पड़ जाते हैं। नाटककार ने भी उसके विचार यहाँ पर संकेत रूप ही में दिए हैं। उनकी विशेष व्याख्या होने पर विजया का चरित्र इतना जटिल न होता। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य मे यह स्कंदगुप्त की ओर आकर्षित होती है। इसकी ओर भी प्रसाद जी ने संकेत मात्र किया है। दूसरे अंक के प्रथम दृश्य मे भी उसके विचारों की विशेष व्याख्या नहीं की गई है। यहाँ आकर वह भटार्क की वीरता-व्यंजक मनोहर मूर्ति पर मुग्ध और उसे गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत जानकर आकर्षित होती है। यहाँ से उसका चरित्र जटिल होने लगता है।

दृश्य ७—दूसरे अंक के इस अंतिम दृश्य में हम कथा के विकास की चरमावस्था (climax) देखते हैं। इस दृश्य में नाटक के नायक की अपूर्व सफलता का प्रथम दर्शन होता है। उसके अंतर्विद्रोहियों में सर्वशक्तिशाली पराजित होकर बन्दी रूप मे यहाँ दिखाई देते हैं। उन्हें क्षमा करके स्कंदगुप्त अपनी विशालहृदयता का परिचय देता है।

इस दृश्य की दूसरी विशेषता है स्कंदगुप्त की मानसिक अस्थिरता बढ़ाने वाली एक घटना। विजया यहाँ स्पष्ट कह देती है, मैंने भटार्क को वरण किया है। इन दो शब्दों ने स्कंदगुप्त पर बड़ा प्रभाव डाला है और नाटक के इस नायक के भावी चरित्र के निर्माण में इनका बड़ा हाथ रहता है।

तृतीय अंक

दृश्य १—भटार्क, देवसेना और विजया के चरित्र के सम्बन्ध में हमें इस दृश्य में विशेष बातें ज्ञात होती हैं। स्कंदगुप्त के क्षमा कर देने पर भटार्क के विचार जानने की स्वभावतः जिज्ञासा होती है। इस दृश्य मे हम देखते हैं कि वह अब भी अपनी दुर्बलता पर विजय नहीं प्राप्त कर सका है। देवसेना की एक उक्ति—मैं मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती—उसके चरित्र को बहुत मनोहर बना देती है। विजया के चरित्र की हीनता—देवसेना के प्रति उसकी ईर्ष्या और उसकी बलि देने के लिए उसे बहकाकर ले आने का प्रस्ताव करने की उसकी नीचता—पाठकों की दृष्टि में उसे बहुत गिरा देती है।

दृश्य २—यह दृश्य कथानक की दृष्टि से तो साधारण है, परन्तु नायक स्कंदगुप्त के चरित्र के सम्बन्ध में दो-एक स्पष्ट संकेतों के कारण विशेष महत्व का है। नाटक के आदि में हमें नायक की जिस उदासीनता का परिचय मिलता है, वह अब तक कार्य-भार के कारण दबी-सी रही। अब विजया की संशयात्मक प्रवृत्ति और निर्णय की शीघ्रता से उसके अविकसित और कोमल प्रेम को जो ठेस लगती है वह उसके हृदय के दार्शनिक भावों को पुनः जाग्रत कर देती है। इस दृश्य से हमें ज्ञात होता है कि भटार्क को वरण करने की बात स्पष्ट कह देने वाली विजया के आचरण से स्कंदगुप्त को कितना परिताप हो रहा है। विजया के चरित्र का पतन यहाँ पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। देवसेना को धोखा देकर वह श्मशान पर ले आती है। एक बार इस कर्म की क्षुद्रता का विचार उसके मन में आता अवश्य है, परन्तु दूसरे ही क्षण वह इस स्त्रियोचित मृदुता को प्रतिहिंसा-भावना की कठोरता

से दबा देती है। देवसेना के चरित्र की विशालता का परिचय हमें इस दृश्य में मिलता है।

दृश्य ३—नाटक के प्रथम अंक में अनन्तदेवी और भटार्क ने मिलकर जो षड्यंत्र रचा था उसका प्रभाव यहाँ तक आते-आते शांत हो गया। इस दृश्य से उनका दूसरा कुचक्र आरम्भ होता है। अतः आगे के कथानक का संकेत हमें इस दृश्य मे मिलता है। अनन्तदेवी, पुरगुप्त और भटार्क के चरित्र के विषय में भी हमें यहाँ नई बातें ज्ञात होती हैं। भटार्क और अनंतदेवी स्कन्दगुप्त से क्षमा-याचना करने के बाद भी कृतघ्नता दिखाते और विरुद्ध षड्यंत्र रचते हैं। पुरगुप्त इसका विरोध सा करता दिखाई देता है, परन्तु वह सत्य ही निर्वीर्य और निरीह बालक है। अनन्तदेवी के चरित्र की उद्दंडता के सामने जैसे उसमें जबान खोलने की हिम्मत भी नहीं है। विजया के चरित्र के पतन का दूसरा चित्र इस दृश्य में हमारे सामने आता है अब तो वह पुरगुप्त के प्रसन्न करने मात्र के लिए रह जाती है।

दृश्य ४—कथानक के विकास और चरित्र-चित्रण दोनों दृष्टियों से यह महत्वपूर्ण है। यहाँ आकर हमें ज्ञात होता है कि अपने असीम साहस के बल पर स्कंदगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया है और विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। देवसेना की आन्तरिक भावनाओं का जो परिचय इस दृश्य में कराया गया है वह कला की दृष्टि से बहुत सफल है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि देवसेना स्कंदगुप्त से प्रेम करती है। परन्तु उसका प्रेम वासना-पूर्ण और स्वार्थी नही है। प्रेम के आवेग मे उसके संयम का बाँध कहीं टूटता नही दिखाई देता। अपनी सभी इन्द्रियों पर वह विजय प्राप्त करती है। ऐसा संयम देवसेना के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देता है।

चतुर्थ अंक

दृश्य १—विजया और अनन्तदेवी के आन्तरिक भावों का विशेष परिचय हमें इस दृश्य में मिलता है। कूटनीति और षड्यंत्र जैसे कार्यों मे व्यस्त रहने वाले व्यक्ति जब तक एक रहते हैं तब तक हम उनके वास्तविक चरित्र से परिचित नहीं हो सकते, उनके आंतरिक

विचारों का परिचय हमे तब मिलता है जब वे किसी कारण से आपस मे लड़ने और क्रोध के आवेश मे एक दूसरे को पोल खोलने लगते हैं। इस दृश्य में अनन्तदेवी और विजया एक दूसरे को अविश्वास की दृष्टि से देखती हुई व्यंग्य करती हैं और पश्चात् उत्तेजित होकर एक दूसरे को अपशब्द भी कह जाती है। यही से दोनो का सम्बन्ध टूट जाता है। अनन्तदेवी के हाथ मे थोड़ी शक्ति है। पुरगुप्त की— भले ही वह चरित्रहीन हो—माता होने से उसे राजमाता का पद प्राप्त है। अनन्तदेवा को अब भी गर्व है और इसी से वह विजया का गर्व चूर करने की बात कहती है। विजया की स्थिति ऐसी नही है; उसका पति भटार्क वीर अवश्य है, परन्तु वह उस पर गर्व नही कर पाती। ऐसी विषम मानसिक स्थिति मे पड़ कर वह शर्वनाग के देश सेवा सम्बन्धी विचारो का स्वागत करती है।

दृश्य २—इस दृश्य मे हमे कथा का पता होता है। पुत्रशोक से देवकी का हृदय फट जाता है। भटार्क जैसे नीच की कृतघ्नता के इससे भयंकर परिणाम की कल्पना कदाचित् नाटककार कर भी नहीं सकता था। भटार्क की माता कमला का ऐसे शोक के अवसर पर पुत्र को फटकारना उसके चरित्र के लिये स्वाभाविक ही है।

दृश्य ३—पिछले दृश्य में भटार्क ने स्कंदगुप्त की मृत्यु का दुखद संवाद देवकी को दिया था। वस्तुतः स्कंदगुप्त अभी मरा नहीं है। हाँ, उसका पता नहीं लग रहा है। इस दृश्य मे एक संकेत नाटककार ने इस ओर किया है। नाटक की मूलकथा से इस दृश्य का कितना सम्बन्ध है। 'मातृगुप्त के काव्यमय विचार' इस दृश्य की दूसरी विशेषता कहे जा सकते हैं।

दृश्य ४—इस दृश्य मे प्रसाद जी के भारत-प्रेम के उद्गार हमें मिलते हैं। भारत की महिमा गाते-गाते नाटककार प्रायः मग्न हो जाता है। नाट्य-कला की दृष्टि से इस दृश्य में हमे तत्कालीन धार्मिक स्थिति का कुछ परिचय मिलता है। यह दृश्य छोटा ही है। कारण, नाटककार का उद्देश्य केवल संकेत मात्र करना है।

दृश्य ५—नाटक की रचनाकालिक धार्मिक परिस्थिति पर इस दृश्य मे विशेष प्रकाश डाला गया है। 'बलि' के प्रश्न को लेकर ब्राह्मणों और बौद्धो में जो वाद-विवाद होता है, इतिहास भी इसका साक्षी है। रचनाकालिक धार्मिक और सामाजिक स्थिति से परिचित कराना भी नाटककार के लिए आवश्यक है। अतः इस दृश्य का स्वतन्त्र महत्त्व है। फिर देश की राजनीतिक स्थिति से—जो मूल कथा का सर्वप्रधान अंग है—सबधित करके नाटककार ने इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है। धार्मिक कलह को मिटाने के लिए इसमें राजनीतिक स्थिति की ही दुहाई दी गई है। वस्तुतः सैद्धांतिक विवाद से धार्मिक कलह का अंत हो भी नहीं सकता ; धर्मोन्माद मे मनुष्य विपक्षी के तर्क पर विचार नहीं करता। यही है इस दृश्य का संदेश। आज भी हम अपने देश के सांप्रदायिक और मत-मतांतर-सम्बन्धी झगड़ों को मिटाने के लिए यह मत्र काम मे ला सकते हैं।

दृश्य ६—इस दृश्य मे नाटककार ने आरम्भ मे हिन्दी कवियों की वर्तमान रुचि पर एक कटाक्ष करके उन्हें आँख खोलकर देश की वर्तमान स्थिति देखने की सलाह दी है। हिन्दी के कवियों ने शृंगार के सुन्दर गीत बहुत समय तक गाए हैं। देश को अब उनकी आवश्यकता नही है। देश पराधीन है। उसे जाग्रत करने के लिए हमारे कवियों को देश-प्रेम के गीत गाने होंगे। कविता मे बड़ी शक्ति होती है। हमारे कवियो की इस शक्ति का सदुपयोग तभी समझा जायगा जब वे इसे देश को जाग्रत् करने के लिए व्यय करें। भारत में जागृति तब होगी जब यहाँ के निवासी संसार की नश्वरता का रहस्य समझ लें। अपनी कविता के द्वारा हमारे कवि यह सदेश समस्त भारत मे बड़ी सरलता से पहुँचा सकते हैं।

दृश्य ७—स्कदगुप्त के सम्बन्ध मे हमारी उत्सुकता इस दृश्य में शांत होती है। हम उसे विचित्र अवस्था मे देखते हैं। हूणो ने उत्तरी भारत का अधिकांश पश्चिमी भाग अपने अधिकार में कर लिया; अपने अधीनस्थ देश की भारतीय प्रजा पर मनमाने अत्याचार किए।

स्कंदगुप्त यह सब जानते हुए भी अपनी प्रजा की रक्षा न कर सका। इस दृश्य में वह जीवन से निराश 'लक्ष्यहीन' युवक के रूप मे हमारे सामने आता है। वह 'निष्प्रभ और निस्तेज' हो रहा है। शर्वनाग और रामा की अभागी संतान की दुर्दशा सुनकर भी उसे क्रोध नही आता, वह अपने को 'अकेला और निस्सहाय' समझकर चुप हो जाता है। कमला उसे उत्साहित करती है, उत्तेजित करती है, आश्वासन देती है, परन्तु इसका भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रश्न यह है कि क्या स्कंदगुप्त जैसा वीर और साहसी युवक इस मानसिक स्थिति को पहुँच सकता है। हमारी सम्मति में उसकी प्रकृति की जिस दार्शनिकता का परिचय नाटककार ने हमें इस नाटक के प्रथम दृश्य मे दिया है वही उसका इस लक्ष्यहीनता, उदासीनता और निराशा का कारण है।

शर्वनाग और रामा के बच्चो की दुर्दशा का जब स्कंदगुप्त पर कोई प्रभाव नही पड़ता तब केवल पाठको की करुणा जाग्रत करने की हमारी सम्मति में कोई आवश्यकता नही थी। यदि रामा द्वारा स्कंदगुप्त की भर्त्सना ही सुनवानी थी तो नाटककार उसे किसी बहाने से इस दृश्य मे उपस्थित कर सकता था।

पचम अंक

दृश्य १—आरम्भ मे मुद्गल अब तक की प्रकाशित और अप्रकाशित घटनाओ की सूचना देकर पाठको को पूरी कथा-वस्तु से परिचित कर देता है। इसके पश्चात् विजया के चरित्रकी विवेचना है। इस सबंध को लेकर मुद्गल ने छबीले छैल और रसीली छोकरियो पर जो कटाक्ष किए हैं, वे देश की वर्तमान स्थिति की ओर से आँखें मूँदे हुए आधुनिक युवको और युवतियों की प्रवृत्ति को लक्ष्य करके किए गए ज्ञात पडते हैं। विजया के चरित्र के सम्बन्ध मे जो विचार मुद्गल के हैं, वह अधिकांश पाठको के भी होंगे। वस्तुतः विजया का चरित्र इतना दूषित नही है। स्वार्थ और परमार्थ को लेकर उसने जो विवेचना की है उससे ज्ञात होता है कि देवसेना को नीचा दिखाने के लिए ही उसने स्कंदगुप्त का साथ छोड़ कर भटार्क और अनन्तदेवी का सहारा

लिया था। प्रतिहिंसा की आग बड़ी भयानक होती है। साधारण व्यक्ति अपने चरित्र की दुर्बलता के कारण स्वार्थ और प्रतिहिंसा से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाता। अतः इसके लिए विजया को दोष देना ठीक न होगा।

भटार्क यहाँ अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप करता दिखाई देता है। स्कंदगुप्त के साथ विश्वासघात करके जितनी हानि वह कर सकता था, कर चुका है। अपनी माता के सामने वह सुकर्म करने की प्रतिज्ञा करता है। देखना चाहिए 'कुकर्मों का फल परिणाम में मधुर होता है', वाली उसी की उक्ति उसी पर कहाँ तक चरितार्थ होती है।

दृश्य २—'प्रसाद' जी की राष्ट्रीयता का परिचय हमें इस दृश्य मे बहुत स्पष्टता से मिलता है। पर्णदत्त जिन छैलछबीलों पर दाँत पीसता है आज उनकी संख्या भारत में बहुत अधिक बढ़ गई है। इससे चिढ़ कर ही जैसे वृद्ध पर्णदत्त देश को पराधीनता का शाप सा देता है।

देवसेना का चरित्र इस दृश्य में अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। उसके वासनारहित आदर्श प्रेम की जो झलक नाटककार ने दिखाई है, अत्यन्त सुखद और रमणीय है। इसी दृश्य मे विजया को भी पाठकों के सामने लाकर उसकी घृणित वासना और क्षुद्र प्रेम की ओर संकेत करके तथा उसकी तिरस्कारयुक्त मृत्यु दिखाकर 'प्रसाद' जी ने देवसेना के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है। स्कंदगुप्त प्रारंभ में अनिश्चित विचारों को लेकर देवसेना से अकर्मण्यों की तरह एकान्तवास की बात कहता है, परन्तु बाद मे उसकी निष्कामना से सावधान होकर कुमार जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा कर लेता है। स्कंदगुप्त का चरित्र इसीलिए सफल है। मानव की दुर्बलता लेकर भी वह महानता का सहारा पाकर महान् हो जाता है।

पाप-प्रायश्चित की इच्छा लिए भटार्क इस दृश्य में आता है; पर स्कंदगुप्त की आज्ञानुसार चलने की उसकी प्रतिज्ञा में इस समय कोई आकर्षण नहीं रह जाता।

दृश्य ३—विलासी नागरिकों की नीचता की ओर एक संकेत इस दृश्य में है।

दृश्य ४—स्कंदगुप्त के विरुद्ध हूणों की विजय के कारण की ओर संकेत करके यहाँ उनके शासन से बौद्धों में फैलने वाले असंतोष की झलक दिखाई देती है। पुरुगुप्त की अकर्मण्य विलासिता यहाँ चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। कथा-विकास से भी इस दृश्य का सम्बन्ध है और हमें पता लगता है कि स्कंदगुप्त ने हूणों को पराजित करने की पूरी तैयारी कर ली है।

दृश्य ५—अंतिम घोर युद्ध, रणक्षेत्र में वीरवर पर्णदत्त की मृत्यु, स्कंदगुप्त की विजय, विमाता और सौतेले भाई के प्रति स्कन्द-गुप्त की उदारता और अपने शरीर की ओर से उदासीनता, इन अनेक बातों की ओर इस छोटे से दृश्य में संकेत किया जाता है।

दृश्य ६—देवसेना और स्कन्दगुप्त की भेंट की एक झलक। सांसारिक संघर्ष से छुट्टी पाकर, थका हुआ प्राणी प्रेम की छाया में शांति से विश्राम करना चाहता है, मधुर मुस्कान के सुख में अपने पिछले कष्टों को भूल जाना चाहता है। परन्तु यहाँ स्थिति भिन्न है। संघर्ष से छुट्टी पाकर स्कन्दगुप्त के लिए विश्रामस्थल नहीं है। कुमार-व्रत की आवेश में प्रतिज्ञा करके वह सुखी नहीं है। सांसारिक सुखों की निस्सारता दिखाकर देवसेना अपने निश्चय पर दृढ़ रहने का उसके सामने आदर्श रखती है। इसीलिए यह अंतिम दृश्य बड़ा मार्मिक है।

चरित्र-चित्रण

मानव जाति स्थूल-रूप से तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती है। सबसे अधिक संख्या संसार में ऐसों की है जिनमें गुण-अवगुण दोनों पाए जाते हैं। समय-समय पर अवसर और स्थिति के अनुरूप इनमें भली-बुरी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और आवश्यकता के अनुसार उनका विकास अथवा पतन होता है। इस वर्ग से कम संख्या

ऐसे व्यक्तियों की होती है जिसमें असत् वृत्तियों की प्रधानता रहती है अथवा उनकी असत् भावनाएँ इतनी प्रबल हो जाती हैं कि उनके सामने उनके गुण छिप जाते हैं—उनकी ओर ध्यान दे ही नहीं पाते। तीसरे और अंतिम वर्ग वालों में दूसरे वर्ग वालों के विपरीत, सत् वृत्तियों की प्रधानता रहती है। अनेकानेक कष्ट सहकर विपत्तियाँ झेलकर भी इस वर्ग वाले अपने सत्पथ से विचलित नहीं होते। दूसरे और तीसरे पक्ष वालो को दानव और देवपक्ष भी कह सकते हैं।

सत् और असत् पात्रो का संघर्ष दिखाना ही प्रायः नाटककारों का उद्देश्य रहता है। नाटक के आरम्भ से दानवपक्ष की पाशविक शक्ति बढ़ने लगती है और देव पक्ष वालो पर विपत्तियाँ पड़ती है जिनसे इस वर्ग वालों मे सहनशक्ति आती है। दानवपात्र धीरे-धीरे इनसे प्रभावित और पराजित होते हैं। फल-स्वरूप उनमे से कुछ का इस संघर्ष मे अन्त हो जाता है, कुछ असत् वृत्तियो से रहित हो देव-पक्ष वालो से मिल जाते है और शेष अपने पापो का फल भोगते है। तरह-तरह की विपदाएँ झेलकर भी इस तरह देवपक्ष की विजय होती है।

देव और दानव-पात्रो के इस संघर्ष से अधिक महत्वपूर्ण, प्रभावोत्पादक और स्वाभाविक वह द्वंद्व-युद्ध समझा जाता है जो मानव-मात्र के अन्तःकरण मे सत् और असत् वृत्तियो मे निरन्तर होता रहता है। वाह्य जगत् के देवो और दानवो के कार्य-कलापो को ध्यान से देखने पर अन्तर्जगत् मे इन दोनो भावनाओ का संघर्ष स्वतः आरम्भ होता है और मानवमात्र नित्यप्रति उसका अनुभव करता है—वस्तुतः उसकी सजीवता का यही एक प्रमाण समझना चाहिए। इस मनोवैज्ञानिक द्वंद्व का विशद एव सत्य व्याख्या जिन नाटको मे की जाती है, कथा की दृष्टि से वे ही सफल और उत्तम समझे जाते है। कारण स्पष्ट है। देव और दानव-पात्रो से हमारा परिचय प्रायः काल्पनिक और अनुमान पर आधारित है। इसलिए मनुष्य होने के नाते अपने वर्ग वालो की वृत्तियों के उत्थान-पतन की कहानी ही चिरपरिचित, रोचक और तथ्यपूर्ण जान पड़ेगी।

... मे देव, दानव और मानव तीनों प्रकार के पात्र

हैं। स्कंदगुप्त, देवसेना, पर्णदत्त और बंधुवर्मा प्रथम वर्ग के; भटार्क, अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि और विजया द्वितीय के और शर्वनाग तथा जयमाला तृतीय के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। देव-पात्रों पर आरम्भ में विपत्तियाँ आती हैं, परन्तु अंत में वे ही विजयी होते हैं। दानव-पात्रों की पाशविक शक्ति पहले तो बढ़ती है; परन्तु आगे चलकर उन्हें नीचा देखना पडता है। मानव-पात्र-पात्रियो के पतन और उत्थान की कहानी भी इस क्रम से चलती है। हाँ, देव और दानव-पात्रों के सम्बन्ध मे इतना ध्यान रखना चाहिये कि प्रथम वर्ग सर्वथा दोष-रहित और द्वितीय पूर्णतया गुणहीन नहीं है। इसी से इस वर्ग के पात्र हमें काल्पनिक जगत् के नही प्रतीत होते। नाटक के चरित्र-चित्रण की यह एक विशेषता कही जा सकती है।

नाटकों में पुरुष और नारी दोनो वर्गों के पात्र रहते हैं। दोनों के स्वभाव मे भिन्नता है, परन्तु दोनो की कुछ वर्गगत और स्वभावगत विशेषताएँ भी है। पुरुष स्वभावतः कर्मठ, शक्तिशाली और कर्तव्य-दायित्व की भावना लिए रहता है तो नारी में सेवा, क्षमता और त्याग की प्रधानता रहती है। ये विशेषताएँ देव-पात्रों की हैं। दानव-वर्ग के पुरुष मे उक्त सत्-भावनाओं के विपरीत कठोरता, अभिमान और उद्दंडता भरी स्वेच्छाचारिता अधिक रहती है, तो नारी मे ईर्ष्या, निर्ममता और वासना की प्रधानता। 'स्कदगुप्त' के पुरुप और नारी पात्रों में देव और दानव-पक्ष को वर्ग और स्वभाव विषयक सभी सत् और असत् विशेषताएँ वर्तमान हैं। नाटककार ने प्रत्येक पात्र की प्रधान विचार धारा से पाठको को उनसे भेंट होते ही परिचित करा दिया है। इससे प्रत्येक पात्र के मनोभावो का विश्लेषण और उनके कार्यों के कारणों की आलोचना करने मे बडी सहायता मिलती है। नाटक का विकास प्रायः नायक के चरित्र और आदर्श के अनुरूप होता है। अपने अधिकांश नाटकों मे प्रसाद जी ने नायक के चरित्रादर्श की ओर प्रथम ही संकेत कर दिया है। 'स्कंदगुप्त' मे भी नायक की दार्शनिकता का परिचय हमें प्रथम दृश्य मे ही मिल जाता है।

प्रमुख पात्रों का चरित्र

स्कंदगुप्त—

गुप्त-साम्राज्य का एक भावी शासक राष्ट्रनीति के कठोर प्रत्यक्षवाद को भूल कर दार्शनिकता और कल्पना के लोक मे विचरण करने लगता है। साम्राज्यलक्ष्मी के लिए उसके मन मे किसी प्रकार का लोभ नहीं है। यह उदासीनता कभी-कभी बहुत बढ़ जाती है और तब पर्णदत्त जैसा वयोवृद्ध सेनापति यह कहने का अवसर पा जाता है कि गुप्त-कुल के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं है। वस्तुतः स्कंदगुप्त का अपने अधिकारो की ओर से उदासीन हो जाना सोद्देश्य है। देश में एक ओर तो विपत्ति के बादल घिर रहे हैं और दूसरी ओर अंतर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित है। ऐसी दशा में इन महान् विपत्तियो का सामना करने के लिए यदि वह राज्यलक्ष्मी की ओर से उदासीन हो जाता है और इस प्रकार साम्राज्य की चाहना रखने वाले विमाता के पुत्र पुरुगुप्त को सिंहासन सौंप, पारिवारिक कलह को मिटाने की बात सोचता है, तो इसमे इसकी दूरदर्शिता ही प्रकट होती है। जो हो, उसकी यह निर्लोभता कभी उसके कर्तव्य-मार्ग में बाधक होकर हमारे सामने नहीं आती है। अधिकार-सुख को मादक और सारहीन मानते हुए वह अपने को साम्राज्य का एक सैनिक मात्र समझता है और सैनिक के कर्तव्य का शक्तिभर पालन करता है। गुप्तकुल के इस भूषण मे व्यक्तिगत वीरता अथवा आत्म-गौरव की भावना का अभाव नही है। मालव-दूत सहायता की इच्छा से जब पूर्व संधि की याद दिला कर अपने अधिकार की पुष्टि चाहता है तब स्कंदगुप्त के वीरोद्गार दूत को, वृद्ध पर्णदत्त को और साथ मे पाठकों को मुग्ध कर लेते हैं। उसे अपने बाहुबल पर विश्वास है और उसका यह कथन 'अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। स्कंदगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।' उसके असीम साहस का परिचायक है। कर्तव्य-पालन के सामने वह अपने प्राणो का भी मोह नहीं करता। उसका यह त्याग ही भारतीय वीरों की दृष्टि में सैनिक के लिए सबसे बड़ा महत्त्व है।

सैनिक से सम्राट होकर स्कंदगुप्त सिंहासन पर अवश्य बैठने लगता है। अब उसे सेनानी के दायित्वयुक्त गुरु भार का अनुभव होता है। क्षमा उसका राजदंड है। मनुष्य से पशु हो जाने वाले शर्वनाग को, महादेवी की हत्या के कुचक्र में सम्मिलित कृतघ्न भटार्क को वह सहज ही क्षमा करके अपनी विशालहृदयता का परिचय देता है। भटार्क फिर विश्वासघात करता है। हूणों से मिलकर वह कुभा का बाँध काट देता है; सारी मगध सेना भटार्क के कहने में आकर इन अत्याचारी विदेशियो का सहर्ष स्वागत करती है। स्कंदगुप्त पराजित होता है; मालवपति बंधुवर्मा मरा जाना है; आर्यशक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। देश पर हूणों का अधिकार होता है। अत्याचार होने लगते हैं। कोमल बालको के प्राण लिए जाते हैं; कन्याओं का अपहरण होने लगता है, स्त्रियों का अपमान होता है। देश में हाहाकार मच जाता है। अपनी प्रचंड हुङ्कार से दस्युओ को कँपाने वाले, ठोकर मार कर सोई हुई अकर्मण्य जाति को जगाने वाले, रमणियो के रक्षक, बालकों के विश्वास, वृद्धो के आश्रय और आर्यावर्त की छत्रच्छाया-रूप स्कंद की चारों ओर पुकार होने लगती है। स्कदगुप्त के कानों तक भी यह आर्तवाणी पहुँचती है, पर निस्तेज और निराश होने के कारण वह इन अत्याचारो का अंत नहीं कर पाता, तथापि असहाय दीनों को राक्षसों के हाथ छोड़ने के लिए अब भी तैयार नहीं है—जन्मभूमि का उद्धार करने की कामना उसके जीवन का लक्ष्य बनी रहती है और इससे वह अकेले ही युद्ध करने का निश्चय भी कर चुका है। अंत में कर्मवीर की कामना पूरी होती है। देश स्वतन्त्र होता है, पराजित हूण सेनापति सिंधु के इस पार के पवित्र देश मे न आने की प्रतिज्ञा करके लौट जाता है। स्कंदगुप्त रणभूमि में ही पुरगुप्त को युवराज बनाकर अपनी निर्लोभता और सैनिक-वृत्ति का प्रमाण देता है।

नवयुवक स्कंदगुप्त के हृदय के कोमलतम भावों से भी प्रसाद जी ने हमें परिचित कराया है। मालव की रक्षा के लिए जाकर वह स्थानीय 'धनकुबेर' की कन्या विजया की ओर आकृष्ट होता है। मालवेश

की वहन देवसेना और विजया पारस्परिक स्पर्धा में पड़ कर एक दूसरे को नीचा दिखाना चाहती हैं। विजया इसी प्रसंग में भटार्क को वरण कर लेती है। स्कंदगुप्त के कोमल हृदय के मर्मस्थल पर यह परोक्ष आघात होता है। उसके हृदय की अशांति उसे कुछ समय के लिए विकल कर देती है। आगे चलकर वह देवसेना की ओर आकर्षित होता है। मालवेश की भी ऐसी ही इच्छा देखकर वह कोमल वृत्ति विशेष संतुष्ट होती है। देवसेना तो उससे आरम्भ से ही प्रेम करती है; परंतु उसे विजया का स्वप्न देखते पाकर अपने हृदय पर नियंत्रण रखती और कठोर संयम से काम लेती है। मालवेश वंधुवर्मा की मृत्यु के पश्चात् सब साधनों से रहित स्कंदगुप्त केवल शांति की चाहना से जब देवसेना को पाने और संसार के कोने में सांसारिक संघर्षो से अलग होकर जीवन बिताने का प्रस्ताव करता है, तब आदर्शमयी यह युवती अपने उपास्यदेव के अकर्मण्य बन जाने की आशंका से भयभीत होकर उसके प्रस्ताव को सविनय सप्रेम अस्वीकार कर देती है। सभी ओर से निराश स्कंदगुप्त फलस्वरूप माता की समाधि को साक्षी करके आजीवन कुमारव्रत पालने की प्रतिज्ञा कर लेता है। कोमल मर्मस्थल पर यह दूसरा आघात है। स्कंदगुप्त इसे सहन तो करता है परतु बड़े कष्ट से। नाटक के अंत में यही दयनीय दशा सहृदयों को द्रवित कर देती है। सत्य ही, कल्पना के लोक में विचरने वाले भग्न हृदय युवक का शेष जीवन कितना कष्टमय कितना करुण, कितना अशांत और कितना दयनीय है!

पर्णदत्त—

मगध की सबसे आगे—शत्रु के ठीक सामने—रहने वाली आर्य-सेना का साहस और सफलता-पूर्वक संचालन करने वाले 'पवित्र क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटने की कामना' रखने वाले वीर सेनापति की, जिसकी महान् वीरता और साहस की सराहना शत्रु भी करते थे, अगीम राजभक्ति और देश प्रेम का परिचय नाटककार ने सर्वत्र दिया है। निर्भीक यह व्यक्ति इतना है कि

गुप्त साम्राज्य के भावी शासक को भी अपने अधिकारों के प्रति उदासीन देख फौरन टोक देता है। नीतिज्ञ इतना कि गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम की बात अपने पुत्र के मुँह से निकलते ही उसे इस नादान चंचलता के लिए सावधान कर देता है। देशसेवा के लिए बहुत से दुर्दशा-ग्रस्त वीर हृदयों की वह शक्ति भर सेवा करता है, उनकी सेवा के लिए भीख माँग कर कुत्सित अन्न का संचय करता है। यह नीच कर्म करके भी जिस वीर का सिर गौरव से ऊँचा रहे, संसार के इतिहास में देश-भक्ति की ऐसी महिमामय मूर्ति के दर्शन और कहाँ होंगे? उसका निम्नलिखित कथन (पृ० १४७) यह हेय कर्म करते समय की मानसिक स्थिति का परिचय देता है—

सूखी रोटियाँ बचा कर रखनी पड़ती हैं। जिन्हें कुत्तो को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्न का सचय! अक्षय निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ। मैं रोऊँगा नही, परंतु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ बहन करने के लिए है? नहीं पर्ण। रोना मत, एक बूँद भी आँसू आँखो में दिखाई न पड़े। तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान यदि होंगे तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। सतोप कर उछलते हुए हृदय, सतोप कर।

जन्मसिद्ध अधिकार का यह समर्थक है। उसकी सम्मति मे 'अन्न पर स्वत्व है भूखो का और धन पर स्वत्व है देशवासियो का। प्रकृति ने उन्हें हमारे, हम भूखो के लिए रख छोड़ा है।

देश मे विलासी, कुलबधुओ का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़कर चलने वाले नारकीय कीड़ो के समान 'नवयुवक' कहलाने वाले निर्जीव और आत्माभिमान-रहित दुरात्माओ को देख कर उसकी आँखो मे खून उतर आता है। इस प्रकार अमर देशभक्ति की पुनीत शिक्षा देकर यह वृद्ध वीर सम्राट् की रक्षा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देता है।

बंधुवर्मा

देश और समाज की परिस्थिति स्वतः व्यक्तियों का निर्माण कर लेती है। प्रस्तुत नाटक जिस काल की घटना को लेकर लिखा गया है, उस समय आन पर मर मिटने वाले सच्चे वीरों की अत्यन्त आवश्यकता थी। समय की जिस पुकार ने स्कंदगुप्त जैसे दार्शनिकता-प्रिय युवक को अपनी इच्छा और प्रवृत्ति के विरुद्ध कठोर सैनिक जीवन बिताने पर विवश किया, वही बंधुवर्मा जैसे वीर और देशभक्त क्षत्रिय को भी सामने ला खड़ा करती है। संकुचित मनोवृत्तियों और सीमित विचारों से सर्वथा रहित यह आर्यवीर देश-प्रेम और सच्ची राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर अपना सर्वस्व आर्य-साम्राज्य के उद्धार का व्रत लिए स्कंदगुप्त को स्वतः अर्पण कर देता है। केवल अपना राज्य ही नहीं, उसकी और उसके परिवार की समस्त सेवाएँ आर्य साम्राज्य के प्रतिष्ठापक स्कंदगुप्त के लिए सुरक्षित हैं।

यह आदर्श क्षत्रिय वीरता और साहस, धैर्य और दृढ़ता, कर्तव्य-पालन और त्याग मे नाटक के किसी भी पात्र से कम नहीं है। वृद्ध सेनापति पर्णदत्त से अधिक उत्साही और आशावान, भटार्क से अधिक वीर और अपनी शक्ति पर भरोसा रखने वाला तथा स्वयं स्कंदगुप्त से भी अधिक निश्चय-बुद्धियुक्त दूरदर्शी और प्रत्यक्षकर्ता हैं। वस्तुतः प्रत्यक्ष क्रियाशीलतामय तत्परता ने दार्शनिकता-प्रिय और कल्पनाशील युवराज स्कंदगुप्त से भी उसका व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली बना दिया होता; परन्तु नाटककार को यह स्वीकार न था। नाटक के नायक से उसके चरित्र में एक अधिक विशेषता लाकर पहले तो वे बड़ी कुशलता से उसका स्वतंत्र विकास दिखाते हैं; परन्तु आगे चलकर स्कंदगुप्त के व्यक्तित्व से अधिक महत्वपूर्ण न होने देने के उद्देश्य से—कदाचित नाटकीय नियमो के पालन की विवशता के फलस्वरूप—बीच ही मे वे उसका अवसान दिखाने को बाध्य हो जाते हैं। फिर भी देशोद्धार के लिए उसके बलिदान से हमारे नवयुवक आज शिक्षा ले सकते हैं। अपने अद्भुत साहस, अनुपम क्षत्रियत्व

और महान त्याग की अमिट छाप वह पाठकों के हृदयपटल पर छोड़ जाता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं, उसका चरित्र अत्यन्त सफल और आदर्श है।

भटार्क

मगध का यह नवीन महाबलाधिकृत, जिसके खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था, आरम्भ से ही ऐसी स्थिति में पड़ जाता है कि उसका चरित्र पतन की ओर बढने से रुक नहीं पाता। नाटक के पहले दृश्य में ही उसने कहा है—'नहीं तो क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि माँगकर मिल भी जाय, तो शांति की रक्षा कौन करेगा?' वह वीर है, साहसी है, दूरदर्शी है, उसके हाथों में बल है और हृदय मे एक आकांक्षा है। अपने बल से वह उसे पूरी करता है। मगध-सम्राट् के समक्ष मंत्री कुमारामात्य पृथ्वीसेन ने उस पर जो आशंका की थी उससे चिढ़कर यह निश्चय करता है—'वे व्यंग्यबाण मेरे अंतस्तल में गड़े हुए हैं। उन्हें निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा। वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे, चुभ-चुभकर वे मुझे सचेत करेंगे। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है। मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा। मेरा हृदय शूलों के लौहफलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्य-बाण नहीं।'

उसके चरित्र का सबसे बड़ा दोष है चित्त की अस्थिरता जो उसकी महत्वाकांक्षा से दबकर निम्नतर से निम्नतम मार्ग की ओर उसे घसीटती है। व्यक्तिगत उन्नति की भावना भौतिकता की ही नहीं, सभी सांसारिक दृष्टियों से आवश्यक है और स्वाभाविक भी। परन्तु प्रशंसनीय व्यक्ति वस्तुतः वह है जो उन्नति के पथ पर बढ़ते समय सदुपायों का सहारा लेता है, सत्परामर्शों का सम्मान करता है और सच्चाई से जीवन बिताता है। भटार्क भी महत्वाकांक्षा लेकर सामने

आता है। हमें इससे संतोष होता है, परन्तु दूसरे ही दृश्य में कुचक्र में फँसकर वह दाँव-पेंच खेलने और आगे बार बार विश्वासघात करने लगता है। उसका चरित्र पतन की अंतिम सीमा पर उस समय पहुँच जाता है जब विदेशियों, विधर्मियों और विजातियों के साथ मिलकर आर्यसाम्राज्य को पराधीनता के निंद्य बंधन में बाँधने का नीच प्रयत्न हम करते देखते हैं। इस नीचाशय की पूर्ति के लिए कुभा का बाँध तोड़ कर आर्यसेना और युवराज स्कंदगुप्त के प्राण लेने का प्रयत्न उसकी नीचतम मनोवृत्ति और क्रूरतम हृदयहीनता का परिचायक है। एक बार नहीं, दो-दो बार क्षमादान दिए जाने पर भी अवनति के अंधकूप मे इस प्रकार गिरने का स्वयं मार्ग तैयार करते रहना दर्शकों के मन को उसकी ओर से इतना फेर देता है कि नाटक के अंतिमांश मे न तो वे उसकी बात पर विश्वास ही करते हैं और न उसकी सद्वृत्ति के उदय पर प्रफुल्लित ही होते हैं। सांसारिकता की दृष्टि से इस प्रकार असत् मार्ग छोड़कर सत्पथ पकड़ लेना भले ही स्वाभाविक और सत्य हो; परन्तु नाटक में ऐसे व्यक्तित्व अंततः निर्जीव और प्रभावहीन ही रहते हैं। कदाचित् इनका हेय अन्त अधिक सारयुक्त और उद्देश्यपूरक हो सकता है।

जो हो, विचार-परिवर्तन द्वारा भटार्क के अंतिम उद्गार को स्वाभाविक सिद्ध करने के लिए एक कलापूर्ण संकेत प्रसाद जी ने नाटक के आरंभ में ही कर दिया है। पृथ्वीसेन इत्यादि स्वामिभक्त वीरो के आत्महत्या करने पर वह क्षण भर के लिए हतप्रभ-सा रह जाता है और उसके मुख से स्वतः शोक भरे स्वर मे ये शब्द निकलते है—'परंतु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक!' उसका यह कथन इस बात का साक्षी है कि महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए असदुपायो का अवलंबन करने पर भी सद्विचारो का बीज उसके मन मे अवश्य है जो कुचक्र और अनुचित उपायों की असफलता के पश्चात् हृदय में लज्जा और ग्लानि की सुधार-जनक भावना के उदय होने पर, अनुकूल स्थिति पाकर उसकी जीवनधारा परिवर्तित कर देता है। अनन्तदेवी, विजया और प्रपंचबुद्धि आदि की कुमंत्रणा से छुटकारा पा जाने पर भटार्क को सुधरते देख यह विचार भी मन में

आता है कि वह स्वयं इतना बुरा नहीं है जितना इनके कुसंग से हो गया। इसके विपरीत, उसकी माता की सुमंत्रणा, सद्भावना और सच्ची ओजभरी फटकार का भी उस पर कोई असर न होते देख उसके सुधार की आशा ही हम छोड़ बैठते हैं। इस दृष्टि से उसका चरित्र कुछ जटिल हो गया है।

आचरण उसका पवित्र और सच्चे वीरों का-सा है। यदि वह दुर्बल चरित्र वाला होता तो अनंतदेवी के वशीभूत हो अपने पतन के लिए एक बंधन और तैयार कर लेता। वस्तुतः उसके चरित्र की दृढ़तायुक्त पवित्रता उसके पुनरुद्धार मे सहायक होती है।

देवसेना

'प्रसाद' जी के प्रमुख स्त्री-चरित्रो की एक अत्यन्त प्रिय विशेषता है भौतिक सुख-साधना के प्रति उनकी उदासीनता। विलास-पूर्ण वासना की भावना में लीन दो-एक पात्रियाँ भी उनकी सभी नाट्य कृतियो मे मिलती हैं; परन्तु इनकी सृष्टि का वास्तविक उद्देश्य इस विलासी लोक से बहुत ऊपर उठी हुई नारी रत्नों के उत्तम चरित्रों की महत्ता विषमता-पद्धति द्वारा प्रदर्शित करना है। सौंदर्य का वास्तविक मूल्य आँकने के लिए कुरूपता से परिचित होना पड़ेगा, सुख के आनन्द का सच्चा अनुभव करने के लिए दुःख के कड़ुए फल चखने होंगे और त्यागपूर्ण प्रेम की महत्ता से चमत्कृत होने के लिए वासना के मलिन और घृणित चित्र देखने होगे।

देवसेना 'प्रसाद जी' की अत्यन्त मनोरम और अपूर्व सृष्टि है। युवावस्था के उन्मादकाल मे संगीत की एकान्त साधना में लीन 'भावविभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी सी कुमारी' एक विशेष आकर्षण लेकर पाठको के सामने आती है। लोमहर्षण युद्ध की सूचना पाकर भी जब यह अद्भुत युवती गीत गाने के लिए उत्कंठित है तब भौतिकता मे रँगे क्षणिक जीवन का मोह लिए हम मानव, वणिक्-वृत्ति और सांसारिक सुख की चाह मन में पालने

वाली विजया की भाँति सहसा चौंक उठते हैं—युद्ध और गान! परन्तु देवसेना को करुण कोमल तान के बिना सब रंग फीका लगता है। उसके लिए विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है, प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। पच्चियों की चहचह, कलकल, छलछल में, काकली में रागिनी है।

नाटक के प्रारम्भ मे देवसेना का यह संगीत-प्रेम चाहे उसके स्वभाव की विचित्रता मात्र हो अथवा विजया के शब्दों में उसे 'गाने का एक रोग' लग गया हो; परन्तु कथा-विकास के साथ साथ उसका मूल्य बढ़ता जाता है। मालवेश की सहायता के लिए आकर स्कंदगुप्त विजया की ओर आकृष्ट होता है और देवसेना स्कंदगुप्त की ओर। विजया के हृदय की थाह लेने के लिए चतुरता से देवसेना उसके मन की बातें—एक युवराज के सामने मन ढीला होना आदि—कहला लेती है। अपने प्रियतम पर मुग्ध मालव के धनकुबेर की इस कन्या की बात सुन कर देवसेना सतर्क हो जाती है। अब उसे अपना प्रेम छिपा कर केवल यह जानना है कि स्कंदगुप्त भी विजया की ओर आकर्षित है या नहीं। इसी समय मालवेश की ओर से मालवमुकुट युवराज को सहर्ष प्रदान किया जाता है। विजया इसका अर्थ निकालती है कि इस प्रकार सिंहासन देकर बन्धुवर्मा अपनी बहन का विवाह स्कंदगुप्त से करना चाहता है। इस भ्रमपूर्ण संदेह से खीझ कर देवसेना को नीचा दिखाने के उद्देश्य से विजया गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत भटार्क को वरती है। न्यायाधिकरण में सम्राट् स्कंदगुप्त के सामने जब विजया इस विवाह की बात कहती है और स्कंदगुप्त दुखी हो विचार में पड़ जाता है, तब देवसेना विजया के प्रति स्कंदगुप्त के प्रेम का परिचय पा, स्वयं अपनी पराजय स्वीकार लेती है; जिस व्यक्ति पर वह अपना सर्वस्व निछावर कर चुकी है वही दूसरी युवती का स्वप्न देखे, देवसेना की दृष्टि मे नारी की सबसे बड़ी हार यही है। परन्तु वह क्रुद्ध नहीं होती, क्षुब्ध नहीं होती; उसे तो अपने प्रेम का निर्वाह करना है, उसका प्रत्युत्तर और प्रतिदान मिले चाहे न मिले। साथ ही वह प्रियतम

के प्रेम-पथ पर कटक बन कर भी नही आना चाहती। अपने इस मौन निश्चय पर वह आजीवन दृढ़ रहती है। भौतिक सुख-साधना और शारीरिक विलासभावना के उन्मादपूर्ण आवेश पर त्याग और संयम के जिस अत्यंत कठोर नियत्रण का परिचय उसने दिया है, वह अद्भुत है, अपूर्व है, उसके चरित्र को बहुत ऊपर उठाने वाला है।

देवसेना के चरित्र को अलौकिकता से बचाने के लिए 'प्रसाद' जी ने उसके मानसिक अतर्द्वन्द्व का अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। स्कदगुप्त से प्रेम करके भी विजया के प्रति उनके आकृष्ट होने की बात जान कर वह अपने आवेग पर अधिकारपूर्ण निर्यंत्रण रखती है। अपने प्रियतम युवराज से प्रेम की चर्चा करके कभी वह उनका अपमान नहीं होने देती। प्रेम की पहाड़ी वेगवती सरिता जब उसके अंतस्तल मे उमड़ती है, जब उसके हृदय मे रुदन का स्वर उठता है, तभी वह संगीत की वीणा मिला लेती है; सहज संगीत-प्रेम दुख की अवस्था मे उसका अवलंब बन जाता है। इस प्रकार प्रेम का, प्रियतम को, सुख ससार को भूल कर भी जीवन कर्म मे सतत लगे रहने का उसका प्रयत्न वैसा ही है जैसे कूलो में उफन कर बहने वाली नदी, में तुमुलतरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा में कोई नाव चलाने को विवश हो जाय।

मानसिक संयम की इस अवस्था में देवसेना की आंतरिक वेदना का परिचय नाटककार ने संकेत रूप में दिया है। कठोर नियंत्रण का निश्चय करने के पश्चात् उसके जीवन मे किसी प्रकार का उल्लास उसके कर्मों में किसी प्रकार का उत्साह, उसके उद्गारो में किसी प्रकार का चाव नही रह जाता। सरसता न रह जाने से उसका शरीर निर्जीव यत्र भर रह जाता है जिसमे नियमित रूप से साँसों की धौंकनी चलती है। सुख-दुख दोनों से उदासीन रह कर अब वह तटस्थ-सी जीवन बिताती है। भाई भीमवर्मा के कहने पर कि सम्राट् ने तुम्हे बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है, वह सीधा-सा उत्तर देती है—सम्राट् की

महानुभावता है। भाई, मेरे प्राणों का इतना मूल्य! इसी तरह स्कंदगुप्त के महान विजय-कार्य की सूचना पाकर भी वह सीधे सादे ढंग से केवल इतना कहती है—भाई, साहस चाहिए, कोई वस्तु असम्भ नहीं।

देवसेना के संयम और त्याग की अंतिम परीक्षा अभी शेष है। जीवन के आरंभ में विजया का स्वप्न देखने वाला उसका प्रियतम स्कंदगुप्त जब सब ओर से निराश और पराजित-सा उसके सामने आकर स्वयं प्राण-भिक्षा माँगता हुआ कहता है—'साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ; वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा और एकांतवास करूँगा'; तब देवसेना अपने उद्गारों का वेग रोक कर उत्तर देती है—'सो न होगा सम्राट्! मैं दासी हूँ। मालव ने देश के लिये जो उत्सर्ग किया है उसका प्रतिदान लेकर मृतआत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट्! देखो यही पर सती जयमाला की भी एक छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिये।' स्कंदगुप्त जब बंधुवर्मा की इच्छा की ओर संकेत करता है तब देवसेना हृदय की बात कहती है—'क्षमा हो सम्राट्! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे; अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी; परंतु आपके पुण्य मे भाग न लूँगी।'

देवसेना की यह उदासीनता देखकर स्कंदगुप्त विचलित हो जाता है। विकल होकर कहता है—'देवसेना! एकांत में, किसी कानन के कोने मे, तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो।' देवसेना अपने को रोक नहीं पाती। धैर्य का बाँध टूट जाता है; कोमल नारी की सुकुमार भावना इतनी कठोरता नही सह पाती। भरे हुए कंठ से अपना हृदय खोल कर कह जाती है—'इस हृदय मे आह! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये; उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिये। नाथ, मैं आपकी

ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले में कुछ लिया नहीं चाहती।' इसके पश्चात् ही वह आर्य पर्णदत्त को लिवालाने का बहाना कर वहाँ से चली जाती है।

नाटक के अंतिम दृश्य में 'प्रसाद' जी ने देवसेना की मनोव्यथा की एक मार्मिक झलक दिखाई है। आदर्श की प्रेरणा से उसने स्कंदगुप्त के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था—अपने प्रेमभाव को निर्दयता से दबा दिया था; परंतु शरीर की स्वाभाविक भूख भोजन के लिए बार बार जागती है। देवसेना इस समय भी संयम से काम लेती है और समझाती है—हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है।

देवसेना के चरित्र की दूसरी विशेषता है उसमें वीर क्षत्राणी के सभी गुणों का वर्तमान रहना। देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का और बच्चों की रक्षा का विचार लेकर वह सब से पहले हमारे सामने आती है। वह आदर्श देश-प्रेमिका और समाज सेविका है। हूणों के आक्रमण करने पर वह अंतःपुर की रक्षा के लिए चिंतित भाई को सांत्वना देती और उत्साहित करती हुई कहती है—भैया! आप निश्चिंत रहिए। मालवेश बंधुवर्मा जब अपना सिंहासन देश की संगठन शक्ति बढाने के उद्देश्य से स्कंदगुप्त को सौंपना चाहते हैं और उनकी रानी जयमाला इससे सहमत नहीं होती, तब देवसेना उसे समझाती है—'क्षुद्र स्वार्थ' भाभी, जाने दो। भैया को देखो। कैसा उदार, कैसा महान, कितना पवित्र! इसी समय बंधुवर्मा से वह कहती है—चलो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी।

देवसेना के देशप्रेम की अंतिम परीक्षा उस समय होती है जब पर्णदत्त देश के बहुत से दुर्दशाग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए तत्पर होता है। देवसेना इन वीरों के अनाथ बालकों की पेट की ज्वाला शांत करने के उद्देश्य से भीख तक माँगती है। मालवेश कुमारी का यह देश-प्रेम कितना महान है! कैसी निष्काम साधना है! आज की नवयुवतियों के लिए त्याग का ऐसा ऊँचा आदर्श, सेवा

का अनुपम उदाहरण कदाचित् किसी देश-प्रेमी की बुद्धि में न आया होगा। नंदन की वसंतश्री' अमरावती की शची और स्वर्ग की लक्ष्मी-सी ये नवयुवतियाँ ही देश को नंदन-सा मनोरम, अमरावती-सा रमणीक और स्वर्ग सा वैभवशाली बना सकती हैं।

जयमाला

सच्चे आर्यवीर बंधुवर्मा की योग्य सहधर्मिणी जयमाला वस्तुतः गौरव और सम्मान-रक्षार्थ मर मिटने वाली क्षत्राणी के रूप में हमारे सामने आती है। वीरता और साहस की वह ऐसी मूर्ति है जो युवराज स्कंदगुप्त को सहायता के लिए न आने पर अपने पति को चिंतित देखकर उत्साहित और आत्मबल पर विश्वास करने को उत्तेजित करती हुई कहती है—क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था? जाओ प्रभु! सेना लेकर सिंह-विक्रम से शत्रु पर टूट पड़ो। दुर्ग रक्षा का भार मैं लेती हूँ। उसका यह कथन निःसंदेह उसके असीम आत्मबल और अद्भुत आत्मविश्वास का परिचायक है। इसी प्रकार जब वह खड्गलता को अपनी चिरसंगिनी कहती और उसके प्रति अपने चिरस्नेह की याद दिलाती है तब भी पाठक उसके निर्भीक साहस का सम्मान करते हैं।

जयमाला के चरित्र की एक बात बंधुवर्मा से मेल नहीं खाती। दूरदर्शी मालवेश जब आर्य-साम्राज्य पर आने वाली विपत्तियों का अनुमान करके आर्यशक्ति को संगठित करने के उद्देश्य से मालवराज्य स्कंदगुप्त को समर्पित करना चाहता है तब जयमाला उसका विरोध करती है। अपने निश्चय को युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिए बंधुवर्मा उससे विवाद करता है; परंतु उसे संतुष्ट नहीं कर पाता। जयमाला का यह विरोध मानवोचित ममता का फल भी हो सकता है और उसके संकुचित दृष्टिकोण का परिणाम भी कि वह अपने पति के उत्सर्ग का उद्देश्य समझती नहीं; स्वीकारती भी नहीं। परंतु

बंधुवर्मा के दृढ़ निश्चय के आगे झुक जाना इस आर्यललना के चरित्र को विशेषप्रिय बना देता है। राष्ट्रीयता की भावना के उदय होने पर उसकी आँखें खुलती हैं, तब वह अपने चरित्र की मोहजनित क्षणिक दुर्बलता के लिए पति से क्षमा माँग लेती है।

जयमाला कल्पना के लोक में न विचरकर सदैव प्रत्यक्षवाद पर विश्वास करती है। भविष्य की चिंता छोड़ वह वर्तमान की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील रहती है। एक स्थान पर उसने व्यंग्य किया है—स्वर्ण रत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं। उसका यह कटाक्ष वर्तमान को भूलकर भावी सुखों के लिए चिंतित रहने वाली विजया के लिए है। सत्य होते हुए भी यह व्यंग्य कटु हो गया है और उसके चरित्र की मानवोचित दुर्बलता सूचित करता है।

विजया

मालव के धनकुबेर की एकमात्र कन्या, विजया, अपनी जाति की जन्म-जात विशेषता, कठिनता से अर्जित धन की रक्षा के लिए भयभीत वणिक वृत्ति की प्रधानता अपने स्वभाव में लेकर पाठकों के सामने आती है। हूणों का भयकर आक्रमण होने पर शरणार्थिनी बनकर वह मालवीय राजरानी की संरक्षा में रहती है। भयानक युद्ध की बात सुनकर वह अत्यंत भय से विचलित हो जाती है। 'स्वर्णरत्न की चमक देखने वाली उसकी आँखे' बिजली-सी तलवारों का तेज नही सह पातीं। राजरानी के हाथ मे छुरी देखते ही वह काँप उठती है। इसी तरह वह यह भी नहीं समझ पाती कि क्षत्राणियाँ युद्ध का स्वागत कर सकती हैं, दुर्ग की रक्षा का भार ले सकती हैं, अथवा घनघोर युद्ध की उपेक्षा करके गीत गा सकती हैं।

वणिक्वृति के प्रधानतः दो अंग किये जा सकते हैं। एक तो संपत्ति-प्रेम, तत्सम्बन्धी गर्व और निजी सुखभोग की उत्कट लालसा तथा दूसरा जीवन के प्रति मोहजन्य कायरता। विजया के स्वभाव में दोनों बाते मिलती हैं; परंतु प्रधानता प्रथम की है। स्थिति का

परिणाम कहिए अथवा वीरों की संगति का फल, थोड़े दिन पश्चात् ही कायरता का स्थान साहस ले लेता है ; संदेह और ईर्ष्या इस कायरता को दूर करने मे विशेष सहायक होते हैं। भटार्क के संसर्ग से वह युद्ध-चर्चा मे भाग लेती है। देवसेना के प्रति ईर्ष्या जागने पर वह भयानक श्मशान में भी उसके साथ घूमती है। यहाँ तक कि जिस छुरी को देखकर मालव के राजमहल मे वह काँप उठी थी उसी को सर्वदा अपने साथ रखती है और आत्महत्या करके अपने जीवन का अंत कर लेती है।

इसके विपरीत, सुख-भोग की लालसा जीवन के आरम्भ मे तो युवावस्था के उन्माद के अनुरूप है ही आगे चलकर भी बराबर वह सबसे पहले आकर्षित होती है। इस प्रथम आकर्षण का प्रधान कारण, उसका रूप अथवा धन उतना नहीं है जितना वह विजय कार्य है जिसका सफलतापूर्वक संपादन करके उसने मालव मंदिर में उसकी तथा अन्यों की रक्षा की थी और इसलिए इसे आवेगभरी सप्रेम कृतज्ञता कह सकते हैं। देवसेना से बातचीत करती हुई विजया स्वयं इस प्रकार ढीले होने का कारण राजकीय प्रभाव कहती है। इस बात के कहते समय उसका विशेष गंभीर न होना इस बात का साक्षी है कि उस अपरिचित युवक, स्कंदगुप्त के प्रति आकर्षित होकर भी विजया प्रेम की सीमा तक नहीं पहुँचती और इसका प्रधान कारण है युवराज की राज्य की ओर से उदासीनता जिसे देखकर विजया सहसा अपने 'भ्रम' पर चौंकती और पश्चात् स्वयं उदासीन सी हो जाती है।

आगे चलकर वह स्कंदगुप्त की ओर से विमुख हो जाने का अपराध यद्यपि देवसेना के मत्थे मढ़ती और कहती है कि उपकारो की ओट में मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल जड़ से कुचल दिया, तथापि इसमे संदेह नही कि पाया हुआ स्वर्ग स्वयं उसी ने खोया, अपने पैर मे उसने आप कुल्हाड़ी मारी।

सारांश यह कि विजया के प्रेमयुक्त आकर्षण का मूलादर्श साधारण लौकिक सुख है जिसके साधन शारीरिक स्वास्थ्य, सौंदर्य, धन, पद, महत्वाकांक्षा आदि हैं। स्कंदगुप्त मे अंतिम को छोड़कर

-सभी गुण वर्तमान हैं; परन्तु एक महत्वाकांक्षा के प्रभाव में वि
-के लिए सुख के सारे साधन फीके पड़ जाते हैं और इसी बात
लेकर देवसेना ने एक व्यग्य भी किया है। चक्रपालित की बात कर
हुए जब विजया कहती है कि चक्र क्या पुरुष नहीं है। वीर हृदय है
प्रशस्त वक्ष है. उदार मुखमडल है। तब देवसेना व्यंग्य भरे स्वर
कहती है और सबसे बडी बात एक है। तुम समझती हो कि व
-महत्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो।

ऐश्वर्य और सम्मान-प्राप्त करने की यह महत्वाकांक्षा सुख
-सारे वांछनीय साधनो के साथ उसे मिलती है भटार्क मे। उ
देख कर और उसकी सुखलिप्सा की बात जानते ही वह सवेग औ
सहर्ष कह उठती है—अहा! कैसी वीरत्व व्यंजक मूर्ति है! औ
गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत!! यह अंतिम बात ही उस
जीवन का चरम लक्ष्य है और भटार्क में इसे पाकर वह उसे वरण कर
लेती है।

विजया के स्वभाव में वणिकवृत्ति के साथ सदेह प्रधान ईर्ष्या
और अनिश्चयात्मक चंचलता भी पायी जाती है। उदारता, सहन-
शीलता और धैर्य का उसमे अभाव है। विश्वास तो कदाचित् व
अपना भी नही कर पाती। यही-कारण है कि जीवन मे उसे कभी
शांति नहीं मिलती। संदेह और ईर्ष्या की अग्नि में जलती हुई
विजया देवसेना को प्रपंचबुद्धि को सौंपती है। परन्तु फल उलटा
होता है और वह स्कदगुप्त को खो बैठती है। भटार्क के सम्बन्ध से
भी उसे सुख नही मिलता। अनंतदेवी और भटार्क की महत्वाकांक्षा
पूरी देखने के लिए वह पुरगुप्त के विलास-जर्जर मन और यौवन में
ही जीर्ण शरीर के सुख के लिए पात्र भर कर पिलाती और इस प्रकार
नीचे की ओर बढ़ती है। महत्वाकांक्षा की पूर्ति के प्रयत्न मे असफलता
मिलने पर अनंतदेवी की चुभती हुई बाते उसके अंतस्थल को बेध
देती हैं और वह एक बार चौंककर अपनी भूलें स्वीकारती है—
"स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग
को घमंड से तुच्छ समझा, देवतुल्य स्कदगुप्त से विद्रोह किया,

अनन्तदेवी

वृद्ध गुप्त-सम्राट की छोटी रानी अनन्तदेवी बड़ी रानी देवकी के पुत्र युवराज स्कंदगुप्त का अधिकार छीन कर अपने पुत्र पुरगुप्त को, उत्तराधिकार नियम के प्रतिकूल, सिंहासन पर बैठाना और स्वयं राजमाता बन कर शासन चलाना चाहती है। उसकी यह महत्वाकांक्षा जितनी ऊँची है उतनी कठोरता और दृढ़ता लेकर वह उसकी सफलता के लिए प्रयत्नशील होती है। स्त्री-सुलभ कोमलता और सहज सुकुमारता का उसमें अभाव नहीं है और महाराज के सामने इनका प्रदर्शन करके वह उनका विश्वास और प्रेम बनाए भी रखती है; परन्तु ऐसी धर्मभीरुता का उसमें अभाव है जो हिन्दू नारियों को केवल सत्पथ पर ही चलने को बाध्य करती है। उसने दृढ़ता पूर्वक राजमाता बनने का निश्चय किया है और इसे पूरा करने—'अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलने के लिए वह सब कुछ कठोर से कठोर कर्म करने को प्रस्तुत है। आधीरात को महाराज को मदिरा से बेहोश करके वह भटार्क से कूट मन्त्रणा करती है; भयानक सूरत शक्ल वाले प्रपच बुद्धि का, जिसे देखकर भटार्क जैसा वीर-साहसी और गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत तक काँप जाता है, यह रमणी सहर्ष स्वागत करती है। अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के पथ पर आने वाली विपत्तियों का उसे जरा भी डर नहीं है। इस सम्बन्ध में उसका आदर्श है—'क्षुद्र हृदय के लिए जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।

इस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए वह अपने में सभी वांछनीय शक्तियाँ जाग्रत करती हैं; भटार्क जैसे वीर को गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत निर्वाचित करके उसने उसे भी अपनी ओर मिला लिया है। नीतिकुशल और दूरदर्शिनी वह इतनी है कि गुप्त साम्राज्य की सेना के बाहर जाने पर वह भटार्क को राजधानी में ही रोक लेती उसे आंतकित करने और विश्वासपात्र बनाने के लिए उसने प्रपंच

बुद्धि का विचित्र ढंग से आगमन कराया है। शर्वनाग को मिलाने के लिए उसने धोखा देने पर कुत्तों से नुचवा देने की धमकी दी है। पति-प्रेम और संतान-वात्सल्य पर भी कठोरता से उसने नियंत्रण कर रक्खा है। वस्तुतः प्रकृति से लड़ने और स्वयं अपने भाग्य का निर्माण करने की अभिलाषा रखने वाली रमणी में इतनी विशेषताओं का होना अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता।

फिर भी उसे अपने प्रयत्न मे सफलता नही मिलती; उसकी महत्वाकांक्षा पूरी नहीं होती। पति की मृत्यु के पश्चात् पुरगुप्त को सिंहासन पर बैठाकर भी वह उसका अधिकार सुरक्षित नहीं रख पाती और अंततः उसे पराजित होना पड़ता है। उसकी पराजय के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि जिस पुरगुप्त के लिए वह सिंहासन चाहती है वह स्वयं महत्वाकांक्षारहित है, साहस का उसमें अभाव है, उसके विलास-जर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर में विरोधी शक्तियों का सामना करने का उत्साह नहीं है बल भी नहीं है। दूसरी बात यह कि उसका प्रधान सहायक भटार्क कुछ तो सद्-वृत्तियों के उदय से, कुछ निजी स्वार्थ-साधन से और कुछ विरोधियों के सत्प्रयत्न-सबंधी उत्साह के सामने टिक नहीं पाता। फलतः अनंतदेवी की पराजय होती है। स्कंदगुप्त से दो बार उसे क्षमा माँगनी पड़ती है।

अनंतदेवी के चरित्र का विश्लेषण करते समय शेक्सपियर की लेडी मैकबेथ की याद आती है। महत्वाकांक्षा और उसकी पूर्ति के लिए साहसपूर्ण कठोरता दोनों रमणियो में समान है। लेडी मैकबेथ भयानक कृत्य कर जाती है; इसलिए उसे पश्चाताप भी बड़ा करना पड़ता है। अनंतदेवी इच्छा रहते हुए भी भयानक कृत्य करके अपनी निर्दयता का परिचय नही दे पाती। जान पड़ता है, प्रसाद जी की कविजनोचित कोमलता रमणियों को इतनी निर्दय बनाना स्वीकार नहीं कर सकी।

चंद्रगुप्त

(प्रकाशनकाल १९३१)

' प्रसाद ' जी के समस्त ऐतिहासिक नाटकों मे कदाचित् ' चंद्रगुप्त ' ही ऐसा है जिसके प्राय: सभी प्रमुख पुरुष पात्रो के नाम इतिहास में मिलते हैं। भारतीय पात्रों में नंद, राक्षस, वररुचि, शकटार, चंद्रगुप्त, चाणक्य, आंभीक, पर्व्वतेश्वर, और यवनों में सिकंदर, सिल्यूकस, फिलिप्स, मेगास्थनीज सभी इतिहास—प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। इसी प्रकार प्रमुख घटनाएँ भी इस नाटक की इतिहास-सम्मत ही हैं।

ऐतिहासिक आधार—ईसा की पाँचवी शताब्दी पूर्व मोरिय जाति के क्षत्रियों का एक छोटा सा प्रजातंत्र राज्य वर्तमान गोरखपुर के पूर्वोत्तर में था। लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् शक्ति बढ़ने पर मगध ने उसे अपने अधिकार मे कर लिया। चंद्रगुप्त मौर्य यहीं के किसी सरदार का, जो सम्भवतः अपनी वीरता के कारण मगध का सेनापति नियुक्त किया गया था, पुत्र था। किशोरावस्था से ही चंद्रगुप्त स्वतंत्र राज्य-स्थापन के स्वप्न देखने लगा। इस समय तक उसका परिचय मगध के शासक नंद और उसके परिवार से हो चुका था और मगध की राजकुमारी उससे प्रेम भी करने लगी थी। शीघ्र ही चंद्रगुप्त को, किसी शुभचिंतक के सुप्रयत्न से यथोचित शिक्षा-प्राप्ति के लिए, अथवा अपने उक्त प्रयत्न मे साधनहीनता के कारण असफल होने पर, पंचनद-प्रदेश जाना पड़ा। यहाँ उसने तक्षशिला विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त की।

पंजाब मे उस समय अनेक छोटे छोटे स्वतंत्र राज्य थे। प्रत्येक का शासक वीरता और स्वाभिमान में दूसरे से बढ़ कर था; परंतु आपस में एकता न थी। नित्य ही पारस्पारिक युद्ध उनकी शक्ति क्षीण किया करते थे। अवसर देखकर यूनानी सम्राट सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया। गांधारनरेश आंभीक ने विभीषण बनकर उसे घर के भेद बताए और बदले में सिकंदर ने उसे झेलम और सिन्धु के बीच की

भूमि का शासक (क्षत्रप) बना दिया। आगे चलकर पौरव पर्व्वतेश्वर ने सिकन्दर का सामना किया। यह भारतीय नरेश घर की फूट के कारण यद्यपि पराजित हुआ, तथापि इसकी वीरता, धीरता और साहस का सिकंदर पर बड़ा प्रभाव पड़ा। ऐसे वीर से मित्रता करने मे उसने गौरव समझा और पौरव को उसने व्यास और झेलम के मध्यवर्ती प्रदेश का क्षत्रप नियुक्त कर दिया।

चंद्रगुप्त इस आक्रमण के समय पंजाब में ही था। विष्णुगुप्त नामक ब्राह्मण से, कल्पित नामधारी चणक का पुत्र होने के कारण जो आगे चल कर चाणक्य के नाम से विख्यात हुआ, चंद्रगुप्त की संभवतः तक्षशिला विश्वविद्यालय में भेट हुई, यद्यपि निवासी यह भी मगध का ही था। दोनों ने मिल कर विदेशी विजेता को पराजित करने के उद्देश्य से भारतीयता और एकता की भावना का प्रचार करके छोटे छोटे राज्यों को सगठित करना चाहा। अनेक बाधाएं इस मार्ग में आई। परंतु अन्त में सतत प्रयत्न के कारण इसे सफलता मिली।

मगध का शासन इस समय तक बहुत बिगड़ गया था। सिकन्दर अपने प्रयत्न में सफल न हो जाय, इस आशंका से चाणक्य को मगध दरबार में जाना पड़ा। जहाँ उसका अपमान ही हुआ। विदेशियों से छुट्टी पाकर मगध का शासन सुधारने की ओर चाणक्य ने ध्यान दिया। अपनी कुटिल नीति से, जिसके कारण उसका नाम कौटिल्य पड़ गया, उसे इसमें सफलता मिली। नंद के स्थान पर चद्रगुप्त शासक बनाया गया और समस्त उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त करके अपनी शक्ति उसने सुदृढ़ करली।

उधर सिकन्दर का देहांत हो जाने पर उसके सेनापति सिल्यूकस ने भारत-विजय की इच्छा से पश्चिमोत्तर प्रदेश पर आक्रमण किया। प्रथम यवन-युद्ध को इस समय तक बीस-बाइस वर्ष बीत चुके थे। भारत की राजनीतिक स्थिति में इतने समय में बहुत परिवर्तन हो गया था। अतः सिल्यूकस को, पूर्व की भाँति छोटे छोटे क्षत्रपों से नहीं, चक्रवर्ती सम्राट चंद्रगुप्त से लोहा लेना पड़ा। यवन-सेना इस युद्ध में

बुरी तरह पराजित हुई और विजित प्रदेशों के साथ अपनी कन्या भी भारत-सम्राट को सौंपनी पड़ी। पश्चात, दोनों देशों में सधि हो गई।

प्रधान कार्य—मुसलमानों के पैर भारत में ईसा की बारहवीं शताब्दी के पश्चात जम सके। इसके पूर्व, लगभग पाँच हजार वर्ष तक भारतीय स्वतंत्रता की कीर्ति बराबर उज्वल बनी रही। बस उस पर एक बहुत हलका धब्बा है ग्रीकों की पचनद-प्रदेशीय विजय का; पाश्चात्य इतिहासकारों ने अपने पक्षपात से, भारत पर बहुत पुरानी योरपीय जीत सिद्ध करने के उद्देश्य से, जिसका सविस्तार और सांगोपांग वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है। उनके कथन का सारांश यह है कि यूनानी सेना का सामना भारतीय वीर किसी तरह न कर सके; अनेक बार उससे ये पराजित हुए। विश्वविजेता सिकन्दर का विचार इस विजय से उत्साहित होकर समस्त भारत को पददलित करने का था; परन्तु अत में अपने अति विस्तृत साम्राज्य में किसी आंतरिक विद्रोह की सूचना पाकर उसने यह विचार स्थगित कर दिया और स्थल पथ से अपनी सेना भेज कर स्वयं जलमार्ग से लौट गया।

परतु इधर की ऐतिहासिक खोज से पता लगता है कि विदेशी इतिहासकारों का यह कथन नितांत पक्षपातपूर्ण और कल्पनाधारित ही है; तथा सिकन्दर के भारत-विजय का विचार स्थगित करने, और इस प्रकार विश्व-विजय का लुभावना स्वप्न भंग होने, का मूल कारण यह था कि उसकी सेना पर भारतीय वीरता का आतक बैठ गया था। यह बात पाश्चात्य इतिहासकारों ने भी स्वीकारी हैं कि पौरव पर्व्वतेश्वर की सेना ने यूनानियों का जिस वीरता से सामना किया था वह सिकन्दर को भी अभूतपूर्व और अति उन्नत जान पड़ी थी तथा इसीलिए उसने पौरव वीर से संधि करना उचित समझा था। इस युद्ध में दाँत खट्टे हो जाने पर विजयी यूनानी सेना का साहस टूट गया। इसी समय उसे मगध की उस लक्षाधिक सेना के संगठित होने की सूचना मिली जो पौरव-सेना से अधिक कुशल और शक्तिशालिनी थी। सिकंदर ने इसका सामना करने के लिए अपनी सेना

को सभी तरह से बार-बार समझाया; परंतु आगे बढ़ने के लिए किसी तरह तैयार न हुई। ऐसी स्थिति में, बहुत संभव है, हार खाने की आशंका से, जीवन भर विश्व-विजेता कहलाने के पश्चात भारत में पराजित होने के कलंक से बचने के लिए, विवश होकर सिकन्दर ने रावी तट तक आकर लौट जाना ही उचित समझा हो।

प्रस्तुत नाटक की रचना यही दूसरी बात सामने रख कर की गई है। नाटककार इसमें सिद्ध करना चाहता है कि भारत में रावी तट तक सिकन्दर के बढ़ आने का कारण था पंचनद-प्रदेश का उस समय छोटे छोटे राज्यों मे बॅटा होना जिनमें पारस्परिक संगठन का अभाव था। परन्तु पौरव पर्व्वतेश्वर की पराजय से चिंतित होकर स्वदेश की स्वतंत्रता को संकट में जान कर, अनेक भारतीय युवक सचेत हुए और उन छोटी छोटी शक्तियों को उन्होंने इस तरह संगठित किया कि यवन-सेना को लौटते समय पग पग पर बाधाओं और विरोधों का सामना करना पड़ा; अनेक प्रकार की क्षति उठानी पड़ी। स्वयं सिकन्दर ऐसे ही एक युद्ध में घायल हुआ और, कुछ इतिहासकारों का मत है कि इसी घाव के कारण बैबिलोनिया में उसकी मृत्यु हो गई।

लगभग बीस वर्ष पश्चात् नए यूनानी सम्राट सिल्यूकस ने अपने पूर्वाधिकारी के अधूरे कार्य को पूर्ण करने का पुन: साहस किया। भारत की स्थिति इस समय तक बदल चुकी थी और छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर मगध के चक्रवर्ती सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का सुशासन था। सिल्यूकस इस परिवर्तन से पूर्णत: अवगत था और इसलिए उसके साहस की हमें प्रशंसा करनी चाहिए। दो-चार छोटे-मोटे स्थानों को जीतने के बाद यूनानियों का सामना मगध की चतुरंगिणी सेना से हुआ। सिल्यूकस की वीर सेना ने शक्ति भर प्रयत्न किया; परन्तु भारतीयों के सामने उसके पैर उखड़ गए और चाणक्य की कूटनीति-युक्त दूरदर्शिता ने उन्हें भागने का रास्ता भी न दिया। अंत में सिल्यूकस को संधि करनी पड़ी और विजित प्रदेशों के साथ अपनी कन्या भी चंद्रगुप्त को सौंपने में उसने गौरव समझा।

सारांश यह कि दो बार यूनानियों को भारत में आगे बढ़ने से रोकना और पश्चात्, अपने देश से उन्हें निकाल कर स्वतन्त्र भारत की कीर्ति की उज्ज्वलता बनाए रखना, इस नाटक का महत्वपूर्ण कार्य है, चंद्रगुप्त और चाणक्य जिसकी सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं तथा लेखक ने जिसके संबंध में ग्रन्थ के प्रथम दृश्य में ही संकेत कर दिया है।

कार्य की अवस्थाएँ—पाँच अंक के नाटक में विकसित होने वाली कथा के पाँच अंग—आरम्भ, विकास, चरम सीमा, उतार और समाप्ति—स्पष्ट रहते हैं। प्रस्तुत नाटक चार अंक का है जिनमें दृश्यों की संख्या क्रमशः ग्यारह, दस, नौ और चौदह है। शास्त्रीय दृष्टि से आगे के अंकों की संख्या घटती जानी चाहिए। 'चंद्रगुप्त' के प्रथम तीन अंकों में इस नियम का पालन किया गया है। परन्तु चौथे अंक के सबसे बड़े होने का कारण यह है कि आरंभ मे लेखक ने दो अंकों में इसे विभाजित करना चाहा था; परन्तु नाटक के आदि से ही कथा का विकास इस ढंग मे हुआ कि केवल चार अंको में ही उसका विभाजन हो सका। इन चारों में यवनो के दो-आक्रमणों का वर्णन है—प्रथम यवन-सेना को भारतीय वीर आगे बढ़ने का विचार छोड़कर लौटने पर विवश करते हैं और दूसरी को पराजित करके संधि करने पर। दोनो आक्रमणों के अवकाश का समय मगध-शासन मे आमूल परिवर्तन करने में लगता है। इस तरह नाटक की दो कथाएँ हो जाती हैं। एक, सिकंदर का भारतागमन जिसका 'आरम्भ' अर्थात् यवन-आक्रमण प्रथम अंक में होता है। इस कथा का 'विकास,' अर्थात् यवनों का झेलम तट तक का प्रदेश जीत कर आगे बढ़ना, 'सीमा' अर्थात पौरव पर्व्वतेश्वर को पराजित करके अपनी शक्ति का परिचय देना, और 'उतार' अर्थात् भयभीत यवन-सेना को स्वदेश लौटने के लिए विवश करना द्वितीय अंक के विषय हैं। इस प्रथम कथा की 'समाप्ति' तृतीय अंक में है; क्योंकि इसी में सिकंदर के भारत से जाने की बाकी कहानी है। इस अंक का शेषांश मगध-शासन-परिवर्तन द्वारा चंद्रगुप्त को साधन-सपन्न बनाने से सम्बन्ध रखता है जिसे द्वितीय

यवनाक्रमण की 'प्रस्तावना' कह सकते हैं। कारण यह कि मगध का सिंहासन पाने के पश्चात् ही यवनों की भारत-विजय के द्वितीय प्रयत्न को विफल करने में वह सफल हो सका।

चतुर्थ अंक मे दूसरे यवनाक्रमण की पूरी कहानी है; कथा-विकास के पाँचो अंग एक ही दृश्य में दिखाए गए हैं और इसी से दृश्यो की संख्या बढ़कर चौदह हो गई है। सम्मिलित रूप से इस नाटक की सारी कथा का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

आरंभ—सिकंदर का भारतागमन। पर्व्वतेश्वर से अपने बद्धमूल वैर-का प्रतिशोध लेने के लिए गांधारराज आंभीक उसका स्वागत करता है। फलस्वरूप यूनानी सेना की शक्ति बढ़ गई और उसका कार्य सरल हो गया। सिकंदर का विरोध करने के लिए चन्द्रगुप्त और चाणक्य तैयार हुए। वे सर्वथा साधनहीन हैं; परन्तु दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी सुन कर यवन सम्राट अपनी सफलता के संबन्ध में चिन्तित हो जाता है और पाठकों के मन में उत्सुकतामय आशा का उदय होता है।

विकास और सीमा—द्वितीय अंक में सिकंदर की यूनानी सेना झेलम तक पहुँच जाती है। पर्व्वतेश्वर उसका विरोध करता, पर पराजित होता है। इस भारतीय नरेश के साहस से प्रभावित होकर सिकंदर ने उसके साथ नरपति-सा व्यवहार किया; स्वयं मैत्री का प्रस्ताव करके उससे संधि करली। यूनानी-विजय की यह चरम सीमा है। इस युद्ध मे सिकन्दर की सेना शिथिल हो जाती है। अवसर पाकर चंद्रगुप्त 'पंचनद के सैनिकों से भी दुर्द्धर्ष कई लक्ष मगध के रणकुशल योद्धा शतद्रु तट पर तुम लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं और नंद के पास कई लाख सेना है' आदि बातों का प्रचार यूनानियों में करता है। परिणाम यह हुआ कि उन लोगो में आतंक छा गया; एक प्रकार का विद्रोह फैल गया और सम्राट के बार बार उत्साहित करने पर भी यूनानी-सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। विवश होकर सिकंदर को लौटना पड़ा। सेना का कुछ भाग उसने थल-पथ से वापस

कर दिया और शेष के साथ स्वयं जलमार्ग से लौटा जिसका उद्देश्य यह था कि लौटते समय तो कुछ प्रदेस जीत ही लिया जाय। इस उद्देश्य में भी उसे सफलता न मिल सकी। चंद्रगुप्त और चाणक्य के प्रयत्न से क्षुद्रक और मालव जातियों मे संधि हो गई; चंद्रगुप्त उनकी सम्मिलित सेना का नायक बनाया गया और मगध से आए गुल्म भी उसी के अधीन रहे। इस भारतीय सेना ने यवनो का पथ-पथ पर विरोध किया और बहुत क्षति पहुँचाई। इस प्रकार प्रथम यवन आक्रमण विफल हुआ।

उतार—तृतीय अंक मे नौ दृश्य हैं। पहले दो में भारतीयो के वीर कार्यों की चर्चा है और तीसरे में हँसता हुआ सिकंदर नौका पर स्वदेश की ओर चल देता है। प्रथम यवनाक्रमण से इस प्रकार छुट्टी पाकर चाणक्य ने मगध के क्रूर शासन का अंत करने और इस प्रकार चंद्रगुप्त को भविष्य के लिए साधन-सम्पन्न बनाने की ओर ध्यान दिया। सिकदर को पराजित करने के लिए पहली बार मालवों और क्षुद्रको की सहायता चंद्रगुप्त को माँगनी पड़ी थी। अब वह स्वय शक्तिशाली है और यह आशा की जाती है कि यवनों के पुनः आक्रमण को विफल बनाने मे इस बार वह सरलता से सफल हो सकेगा। इस तरह मगध शासन-परिवर्तन-सबधी यह घटना अंतिम यवनाक्रमण को विफल बनाने के लिए बिखरी हुई भारतीय शक्ति को सगठित करने का महत्वपूर्ण प्रयत्न है जिससे आगामी संघर्ष में भारत के वीरों की विजय निश्चित हो जाती है।

समाप्ति—यवनो के नए सम्राट सिल्यूकस का भयानक आक्रमण। अब वह अपनी 'पश्चिमी राजनीति से स्वतन्त्र हो गया है और सिकंदर के पूर्वी प्रांतो की ओर दत्तचित्त है।' स्पष्ट है कि इस बार यवनो का सेनापति अधिक निश्चित है और अंतिम संघर्ष के लिए तैयार है। भारतीय वीर उसका सामना करने के लिए बढ़ते हैं। घोर युद्ध में यवन-सेना पराजित होती है और चाणक्य की चाल से 'समस्त ग्रीक शिविर बन्दी हो जाता है। मालव और तक्षशिला की सेना को हिरात

पथ में खड़ी करके यवनों का लौटना भी उसने असंभव कर दिया।' अंत में संधि होती है। 'आर्यावर्त की नैसर्गिक सीमा तक का देश' और साथ में अपनी कन्या देने के लिए सिल्यूकस को तैयार ना पड़ता है। विश्वविजेता यवनों के दो प्रयत्नों को इस प्रकार फल करके भारतीय वीरता का गौरवपूर्ण प्रदर्शन करने के पश्चात्, ाटक की सुखद समाप्ति होती है।

नायक कौन—शास्त्रीय दृष्टि से नाटक का नायक कहलाने का धिकारी होता है वह व्यक्ति आदि से अंत तक जिसका घनिष्ठतम बन्ध प्रमुख कार्य से बना रहे। आरम्भ में कार्य-संपादन की इच्छा ेकर जो पात्र सामने आता है; साधन जुटा कर कर्मवीर की तरह अपने पथ पर अग्रसर होता है; मार्ग मे सफलता असफलता की आशा-निराशा से आँख-मिचौनी खेलता हुआ अबाध और अविश्रांत गति से जो आगे बढ़ता जाता है और अंत मे विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करके सफलता का सुस्वादु फल चखता है; नाट्यशास्त्र मे उसी को नायक मानने की बात कही गई है। इस दृष्टि से चंद्रगुप्त को प्रस्तुत नाटक का नायक मानना चाहिए। भारत में यवनों के पैर जमने न देने और इस प्रकार विश्वविजयोन्माद में मत्त अलक्षेंद्र के आक्रमण को व्यर्थ कर भारतीय स्वतंत्रता की उज्ज्वलता को विशुद्ध बनाये रखने का प्रण जिस वीर ने किया है, सर्वथा साधनहीन होने पर भी अदम्य उत्साह, अनुपम धैर्य और अनुकरणीय अध्यवसाय के बल पर मार्ग मे आनेवाली समस्त बाधाओ पर विजय और अपने इस महान कार्य मे पूर्ण सफलता पाकर अन्त मे मगध का ऐश्वर्य-संपन्न साम्राज्य और यवन राजकुमारी का पूर्व स्मृति की मधुरिमा से युक्त प्रेम जो वीर प्राप्त करता है, वह चन्द्रगुप्त ही नाटक का नायक होने योग्य है। ग्रन्थ का नामकरण उसीके नाम पर किये जाने से लेखक का स्पष्ट संकेत भी यही जान पड़ता है।

परन्तु संकट के प्रत्येक अवसर पर चाणक्य की दूरदर्शिणी बुद्धि का चमत्कार देख कर कभी कभी दर्शक सोचने लगता है कि अपने शिष्य का भाग्यविधाता यह अद्भुत व्यक्ति क्यों न इस महत्वपूर्ण

पद का अधिकारी समझा जाय? युवावस्था का अदूरदर्शी और आवेशपूर्ण उत्साह लेकर प्रथम दृश्य में ही चंद्रगुप्त की चपलता दर्शकों की दृष्टि में उसे गिराने को होती है, तब चाणक्य का ही उत्साहवर्द्धक वात्सल्य उसकी सहायता करता है। आगे चल कर भी कार्य की सारी गति-विधि का निर्माण, निरीक्षण, सपादन, यहाँ तक कि इच्छानुकूल अंत भी चाणक्य की ही प्रेरणा और प्रयत्न से होता है। सारांश यह कि नाटक के प्रधान कार्य की सिद्धि के लिए यदि चन्द्रगुप्त की शक्ति आवश्यक थी तो चाणक्य की बुद्धि की आवश्यकता उससे किसी दृष्टि में कम नहीं है।

यह सब होते हुए भी चन्द्रगुप्त को ही नाटक का नायक स्वीकारने का प्रधान कारण यह है कि चाणक्य भी स्वय परदे के पीछे रहकर चन्द्रगुप्त को ही सामने रखना चाहता है। मस्तिष्क को यदि शक्ति का सहारा न मिले तो कोरी कल्पना इस प्रत्यक्ष जगत मे कुछ नहीं कर सकती। चाणक्य का मस्तिष्क चन्द्रगुप्त-सी शक्ति पाकर ही अपने प्रयत्न में सफल होता है। चाणक्य के त्याग के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त मे नायकोचित सभी सात्विक गुण वर्तमान हैं और एक समय चाणक्य तथा सिंहरण के न रहने पर भी उसका उत्साह सूर्य पूर्ण तेजसे चमकता है। भयानक विपत्ति के इस अवसर पर चन्द्रगुप्त की आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास दिखाकर नाटककार संभवतः संकेत करता है कि अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति उसमें पर्याप्त है और चाणक्य के मस्तिष्क की सहायता से वंचित रहने पर भी अपने कर्मपथ पर वह सोत्साह बढ़ सकता है।

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति—देश मे वीरता का उस समय अभाव नही था; परन्तु सामूहिक समस्याओ की उपेक्षा करके व्यक्तिगत वैमनस्य में राजा-प्रजा दोनों फँसे थे और निजी मान-सम्मान का झगड़ा निबटाने के लिए विदेशियो को मध्यस्थ बनाना चाहते थे। पंचनद-नरेश पर्व्वतेश्वर से विरोध के कारण क्षुद्र हृदय आंभीक यवनो का स्वागत करता है। यही नही, एक राष्ट्र की भावना पर प्रांतीयता-प्रेम ने विजय प्राप्त कर ली थी और इसलिए वीरता तथा शक्ति में

श्रेष्ठता का निबटारा करने के लिए चन्द्रगुप्त चाणक्य से कहता है—हम मागध हैं, और यह (सिंहरण) मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरु-कुल में, हम लोग शक्ति की परीक्षा भी देते। यह प्रांतीयता-प्रेम चंद्रगुप्त में ही नहीं, गांधारराजकुमारी अलका में भी है। 'तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन अमूल्य है' अपने इस कथन के उत्तर में सिंहरण के मुँह से यह सुनकर कि 'मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है; यही क्या समग्र आर्यावर्त है,' अलका आश्चर्य से पूछ बैठती है—क्या कहते हो! इससे स्पष्ट है कि यह संकुचित और हानिकारिणी भावना उस समय सारे उत्तरी भारत में फैल रही थी। संभवतः इसका कारण था बहुत से छोटे छोटे राज्यों में देश का विभाजित होना। दूसरे शब्दों में, एक सर्वमान्य और सर्वशक्तिशाली सम्राट के अभाव में देश की राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न होकर प्रांतीयता में बँट गई थी और आगे चलकर यही शक्ति-विभाजन पंजाब में सिकन्दर की विजय का कारण हुआ। देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से इस प्रकार पाठकों को परिचित करा देना आवश्यक था और इसलिए 'प्रसाद' जी का यह प्रयत्न प्रशंसनीय समझना चाहिए।

राजनीति और विद्यार्थी—सिंहरण और चंद्रगुप्त यद्यपि नये स्नातक ही हैं, तथापि देश की राजनीतिक स्थिति से वे अपरिचित नहीं प्रतीत होते। इससे 'प्रसाद' जी का यह संकेत जान पड़ता है कि हमारे प्राचीन विश्वविद्यालयों में केवल पाठ्य पुस्तकों की पढ़ाई नहीं होती थी, राजनीति की सामयिक समस्याएँ भी विद्यार्थियों के अध्ययन का प्रिय विषय थीं और इसके लिए उनके शिक्षक उन्हें सदा उत्साहित करते रहते थे।

दृश्यों का साहित्यिक महत्व

प्रथम अंक

पहला दृश्य—कथा-विकास, चरित्र-चित्रण और देश की

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से परिचित कराने वाला नाटक का यह प्रथम दृश्य कला की दृष्टि से पूर्ण सफल है। प्रथम परिचय मे ही नाटक के पाँच प्रमुख पात्रों के चरित्रो की मुख्य विशेषताएँ संकेतरूप में हमें ज्ञात हो जाती हैं। चाणक्य का ब्राह्मणत्व पर गर्व और राजनीतिक दूरदर्शिता, सिंहरण का साहस और देश-प्रेम, आंभीक का देश द्रोह और उद्दड व्यवहार, चद्रगुप्त का गौरवादर्श और आत्म-विश्वास तथा अलका की निष्कपटता और राष्ट्रीय-भावना आदि का परिचय हमे उनके विचारो से मिल जाता है।

अभिनय की दृष्टि से इस दृश्य की ओजभरी सक्रियता भी अभिनंदनीय है। चाणक्य और सिंहरण का वार्तालाप आरम्भ होते ही आंभीक का गरजते हुए आ जाना, चंद्रगुप्त-आंभीक का असि-युद्ध, चाणक्य के सामने चंद्रगुप्त की देश भक्ति-सी प्रतिज्ञा, सिंहरण और अलका के उत्साहवर्द्धक वाक्य दर्शको के हृदयो मे भी वीरोचित भावना का सचार करते हैं।

दृश्य के अंत में अलका और सिंहरण का एक दूसरे की ओर देखते हुए प्रस्थान करना युवावस्था के उमड़ते हुए हृदयों के परस्पर अनुरक्त हो जाने का काव्योचित संकेत है।

विशेष—यूनानी लेखकों ने अपने इतिहासो मे 'आंभीक' का नाम 'एंफिस' दिया है। इसका भारतीय रूप 'अंभि' या 'आंभी' होना चाहिए और आधुनिक इतिहासकारो ने दूसरे रूप का प्रयोग ही प्रायः किया है।

दूसरा दृश्य—दो उद्देश्य इस दृश्य के हैं—एक, मगध के विलासी शासक नद की वसंतोत्सव पर विलास-लीला, प्रत्येक कुज में मदिरा कलश और चषक के साथ विलासिता का नृत्य, दिखा कर यह संकेत करना कि नद किस प्रकार आमोद-प्रमोद में मग्न रहता था ; दूसरा उद्देश्य है कलाकुशल विद्वान राक्षस की कुलीनता का परिचय देकर उसको अमात्य निर्वाचित करवा देना।

कथा संगठन की दृष्टि से इस दृश्य के सम्बन्ध मे कहा जा सकता

है कि इसे स्वतंत्र रूप न देकर नाटककार किसी अन्य से सम्बन्धित करके भी अपना काम चला सकता था।

तीसरा दृश्य—नंद के अत्याचार और ब्राह्मण-विरोध के परिचायक इस दृश्य में चाणक्य के हृदय की कोमलता पर होने वाले प्रथम आघात की कहानी है। आवेश मे आकर मगध को उलटने के लिए चाणक्य का तैयार हो जाना, फिर कुछ क्षण बाद उदासीन जीवन बिताने का निश्चय करना, इन बातों से उसके मानसिक द्वंद्व का पता चलता है।

चौथा दृश्य—कथा की प्रगति मे सहायक साधारण दृश्य जिसका उद्देश्य इस बात की सूचना देना है कि मगधसम्राट विलासी नंद के व्यवहार से सारी प्रजा, यहाँ तक कि कन्या कल्याणी और उसकी सखियाँ भी, जिनके प्रति नंद का कन्या-सा स्नेह है, संतुष्ट नहीं हैं और सहज प्रीति नही करती, भयभीत-सी रहती हैं। सुवासिनी, कल्याणी, राक्षस, और चन्द्रगुप्त, इन चारो के विचारो से हमें यहाँ उनकी स्थिति का पता लगता है। ब्रह्मचारियो का वार्तालाप उत्तरापथीय गणतंत्र राज्यों की प्रजा के सुख और मागधीय प्रजा के दुख की ओर संकेत करता है।

पाँचवाँ दृश्य—नाटकीय क्रियाशीलता की दृष्टि से सफल दृश्य, आदि से अंत तक दर्शक जिसे साँस रोक कर देखता है। मगध-शासक नंद, बौद्धअमात्य राक्षस, ब्राह्मण चाणक्य, सेनापति-पुत्र चन्द्रगुप्त और नंदकुमारी कल्याणी के कथन उनके चरित्रो पर प्रकाश डालते हैं। चाणक्य के प्रति नंद का व्यवहार पाठकों की उत्सुकता बढ़ाता है। कथा-संगठन के प्रश्न को लेकर कहा जा सकता है कि पौरव पर्व्वतेश्वर का अपमानजनक उत्तर पाने पर कोई भी आत्मा-भिमानी शासक उसको सहायता देने की बात सुन कर नंद की तरह ही क्रुद्ध होता। अतः चाणक्य के प्रति मगध-सम्राट का व्यवहार भी अनुचित नही जान पड़ता और इसीलिए जोर जोर से 'ब्राह्मण-ब्राह्मण' चिल्लाकर स्नातक चाणक्य के लिए दर्शकों

की सहानुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न बहुत सफल और सगत नहीं है।

छठा दृश्य—यवनों के साथ गांधारनरेश की जिस अभिसंधि के संबन्ध में नाटककार ने प्रथम दृश्य मे संकेत किया है, उसका पूरा परिचय हमे यहाँ मिलता है। पौरव पर्व्वतेश्वर से गांधारपति का बद्धमूल वैर है। इसलिए विदेशियो के हाथ में पूर्णरूप से आत्म-समर्पण कर वे देशद्रोही बनना स्वीकारते हैं। यवन-आक्रमण के समय ओहिंद नामक स्थान पर पुल बनाए जाने की चर्चा प्राचीन इतिहासों में मिलती है। इस दृश्य का आरंभ उसी प्रसंग से किया जाता देख पाठक नाटककार की सूक्ष्म ग्राह्यबुद्धि से प्रभावित होते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस दृश्य का काई महत्व नहीं है।

सातवाँ दृश्य—बदोगृह में चाणक्य। राष्ट्र के कल्याण और आर्यावर्त की गौरव-रक्षा के लिए चिंतित तथा ब्राह्मणत्व पर गर्व करने वाला यह व्यक्ति आवेशभरी स्पष्टवादिता के लिए बन्दी कर लिया जाता है। पिंजड़े मे बन्द सिंह और घायल सर्प की तरह अपनी विवशता के लिए गरजता और फुसकारता चाणक्य हमारे सामने है। चाणक्य के चरित्र की विशेषताओ से परिचित कराना ही इस दृश्य का उद्देश्य है। 'मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा,—चाणक्य का यह कथन दर्शकों की उत्सुकता बढ़ाता है।

आठवाँ दृश्य—कला की दृष्टि से सुन्दर और सफल दृश्य। वृद्ध गांधानरेश, राजकुमार आंभीक और कुमारी अलका, तीनों के चरित्रो की रेखाएँ यहाँ बड़े चटक रगो से चित्रित हैं। तृष्णा की अग्नि मे पतंग की तरह जलता हुआ गांधारनरेश कभी पुत्रस्नेह के आवेश में, महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए देश-द्रोह के कुटिल पथ पर चलने वाले आंभीक को ढील देने की बात सोचता है और कभी अनुभवी और दूरदर्शी शासक की तरह गांधार को कष्ट कलंक से बचाने के लिए चिंतित हो जाता है। यह मानसिक द्वंद्व उस समय और भी बढ़ जाता

है जब पुत्री अलका को पुत्र आंभीक के आचरण के विपरीत, राष्ट्रीयता की ओर बढ़ने की सूचना उसे मिलती है।

राष्ट्रीयता की सात्विक भावना से ओत-प्रोत अलका के ओजस्वी विचार इस आर्य-ललना का चरित्र दर्शकों की दृष्टि मे बहुत ऊपर उठा देते हैं।

नवाँ दृश्य—शौर्यगर्व में चूर पर्व्वतेश्वर और पददलित ब्राह्मणत्व के अपमान से खीझे हुए चाणक्य के ओजपूर्ण वार्तालाप के अतिरिक्त इस दृश्य का ऐतिहासिक महत्व है 'पिप्पलीकानन के मौर्यों को सच्चे क्षत्रिय' सिद्ध करना। चाणक्य का तर्क है, 'आर्य क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगो को वृषलत्व मिला; वस्तुतः ये क्षत्रिय हैं। इतिहासकारों के इस विवादग्रस्त विषय के सम्बन्ध में इस प्रकार अपना मन प्रकट करने का अवसर प्रसादजी ने निकाल दिया है।'

दसवाँ दृश्य—यवन सेनापति सिल्यूकस को चंद्रगुप्त से परिचित कराना और मागध के असीम तेज से प्रभावित करके यवन के मुख से कहला देना कि यह तो कोई बड़ा श्रीमान पुरुष है, इस दृश्य का उद्देश्य है। परन्तु इसकी पूर्ति के लिए जो आडम्बर किया गया है वह विशेष आकर्षक और महत्वपूर्ण नहीं है। भोले-भाले बच्चे की तरह सिल्यूकस को चरका देकर, उसे मूर्ख बनाकर अलका को उसके सामने से हटा देने में क्या तत्व है? अचेत पड़े चन्द्रगुप्त के पास एक व्याघ्र को बैठा दिखाना इस साधारण किंवदंती का भद्दा पालन भर तो है कि उसके तेज से हिंस्र पशु तक मुग्ध थे! कथा-संगठन की दृष्टि से यह दृश्य निरर्थक ही है और इसके हटा देने पर उसमें कोई त्रुटि नहीं आ सकती।

ग्यारहवाँ दृश्य—अदृष्टदर्शी भारतीय दार्शनिक की निर्भीकता, तत्वदर्शिणी बुद्धि और भविष्यवाणियों से, अपने को जगद्विजेता समझने वाले सिकन्दर को प्रभावित कराना इस दृश्य का प्रथम उद्देश्य है तथा चंद्रगुप्त के असीम तेज की ओर उसे आकृष्ट कराना, दूसरा।

प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य की भाँति यह अंतिम दृश्य भी महत्वपूर्ण, नाटकीय सक्रीयता से युक्त और सफल है। दृश्य के अत में सबका स्तब्ध होकर चन्द्रगुप्त की ओर देखना और चंद्रगुप्त का आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगना भी चमत्कारपूर्ण और सोद्देश्य है।

द्वितीय अंक

पहला दृश्य—प्रथम अंक के विभिन्न दृश्यों में जिन त्रिपक्षियों से हम अलग अलग परिचित हो चुके हैं, वे सभी यहाँ एकत्र हैं। 'विश्व-विजय की कामना रखने वाले सिकदर की इच्छा-पूर्ति के सम्बन्ध में पहली शका दाँड्यायन के आश्रम मे उसकी भविष्यवाणी सुन कर पाठक को होती है। उसकी पराजय का द्योतक दूसरा सकेत नाटककार ने यहाँ किया है जब फिलिप्स और सिल्युकस, इन दोनों सेनापतियो का पारस्परिक वैमनस्य यवन सेना मे फैलने वाले भावी आंतरिक विरोध का बीज बोता है। चन्द्रगुप्त के मुखतेज से सिकंदर और सिल्यूकस प्रथम अंक मे चकित हो चुके हैं। यहाँ उसकी साहस-पूर्ण निर्भीकता के साथ शस्त्रकौशल दिखलाने का उद्देश्य है उसकी भावी विजय के लिए पाठक के हृदय में आशा उत्पन्न करना। यवन सेनापति सिकदर का यह कथन, 'भारत आज तक कभी आक्रांत नहीं हुआ,' हमारी प्राचीन स्वतंत्रता की उज्ज्वलता सिद्ध करता है। चद्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया के आकर्षण का भेद यहाँ सबको ज्ञात हो जाता है। फिलिप्स द्वारा किए गए अपने अपमान की बात कार्नेलिया इसी लिए भूलना नही चाहती कि 'उस घटना से किसी और का सम्बन्ध है।'

दृश्य के आरंभ में पता लगता है कि दारा को पराजित करने के पश्चात् सिकदर ने उसकी युवती कन्या से जबरदस्ती विवाह कर लिया है। इतिहास में इस बात का उल्लेख है कि दारा की कन्या से सिकदर का विवाह हुआ था, और इसके लिए उसकी स्वीकृति ले ली गई थी; उसकी प्रसन्नता से यह सम्बन्ध हुआ था। परन्तु इस दृश्य में तो उसका यह कार्य एक लुटेरे-सा है जो जीत में मिली हर

चीज का इच्छानुसार भोग करने को प्रस्तुत है और उसके इस व्यवहार से 'वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका सम्राज्ञी कहने पर तिलमिला जाती है।'

ग्रीक शिविर के पास फिलिप्स के दुर्व्यवहार से कार्नेलिया की रक्षा करने के लिए चंद्रगुप्त को पहुँचाना नाट्य-कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर नहीं है। संकट में पड़ी प्रेमिका को बचाने के लिए उसके प्रेमी को फौरन पहुँचा देना 'प्रसाद' जी का ऐसा परिचित ढंग है कि उसमें नवीनता का कोई आकर्षण शेष नहीं रहता और इसीसे यह बात कभी कभी बहुत खटकने लगती है।

दृश्य के अंत में चंद्रगुप्त के निकल जाने पर जिस सेनापति को सिकंदर ने विचाराधीन कर रखा है उसीसे पूछता है--यह क्या ? और चटाक से तमाचे जैसा उत्तर पाता है—आपका अविवेक। क्या ग्रीकों का राजकीय शिष्टाचार ऐसा ही होगा ?

दूसरा दृश्य—यवनों के विरोध का प्रथम उल्लेख्य उद्योग दिखाना इस दृश्य का जितना ही महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है, उतनी ही असफलता लेखक को इसमें मिली समझनी चाहिए। चाणक्य सिंहरण, कल्याणी, पर्व्वतेश्वर सभी यहाँ विचित्र रूप में हमारे सामने आते हैं और उनके प्रथम वाक्यों से पता लगता है जैसे सभी घबड़ाए हुए और परेशान हैं।

दृश्य के आरंभ में अलका से भेंट कराने के लिए गांधारराज को युद्धभूमि में ले आना निरुद्देश्य ही है। यह काम पहले भी हो सकता था। दृश्य के अंत में कल्याणी और चंद्रगुप्त की बातचीत भी व्यर्थ है। चद्रगुप्त उसे सूचना देता है—'इस युद्ध मे पर्व्वतेश्वर की पराजय निश्चित है।' तो क्या चाणक्य और सिंहरण के साथ पौरव की पराजय देखने के लिए ही वह सँपेरा बना था ? यहाँ अपने उस भावी कार्यक्रम की सूचना क्यों नहीं देता जिसके लिए वह भारत का उद्धारकर्त्ता कहलाएगा ?

कथा-संगठन की दृष्टि से यह दृश्य बहुत लचर और ढीला है। बस इससे हमें इतना मालूम हो जाता है कि पर्व्वतेश्वर ने यवनों से

लोहा लेना स्वीकारा है और वेश बदले चंद्रगुप्त और सिंहरण वहीं मौजूद हैं ; पर चाणक्य का पता नहीं है।

तीसरा दृश्य—साधारण दृश्य जिससे युद्ध की भयानकता का परिचय नहीं मिलता। वितस्ता पर यवनों का पौरव-पुरु ने बड़ी वीरता से सामना किया ; परन्तु यहाँ यह उल्लेख भी अनाकर्षक ही है। अपनी भागती हुई सेना को देखकर पर्व्वतेश्वर का ओजभरी वक्तृता देना अवसर के अनुकूल है ; परन्तु 'पराजित पौरव के साथ कैसा व्यवहार किया जाय ?' सिकंदर के इस प्रश्न के उत्तर में पर्व्वतेश्वर का यह कथन, 'जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है', रटा-रटाया और निर्जीव-सा है। चद्रगुप्त और सिंहरण के चरित्र इस दृश्य में ऐसे अकर्मण्य रूप में चित्रित हैं जैसे वे खड़े खड़े इस भारतीय वीर का पतन भर देखते रहे हो।

दृश्य के अत में संधि हो जाने के पश्चात आंभीक का आकर घायल सिंहरण और उसे उठाती हुई अलका, दोनो को बन्दी कर लेना, पर्व्वतेश्वर का उन्हें अपने यहाँ रखने का प्रस्ताव करना और सिकन्दर का उससे सहमत हो जाना, एक सम्मिलित रहस्य बन कर पाठको की उत्सुकता बढ़ाता है।

चौथा दृश्य—सुमन-सी कोमल सिंधु-कुमारी की भोली-भाली सरलता यहाँ देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है। चंद्रगुप्त का भूखा हृदय उसकी ओर आकृष्ट होता है और रणभेरी के पहले मधुर मुरली की तान सुनने की कामना उसमे जाग उठती है। चंद्रगुप्त और मालविका को इस तरह उद्यान के एक अंश में बाते करते पाकर चाणक्य का यह कहना, 'छोकरियो से बातें करने का यह समय नहीं है' उसकी हृदयहीन अशिष्टता का परिचय देता और उसके गुरुजनत्व की गंभीरता के मर्मस्थल पर आघात करता है ; साथ ही चंद्रगुप्त और मालविका के लिए अपमान जनक भी है।

चद्रगुप्त ने चारों ओर घूमने-फिरने का जो वर्णन किया है, उससे यवन-सेना की गति-विधि का पता पाठकों को चल जाता है।

पाँचवाँ दृश्य—सिंहरण और पर्वतेश्वर के वीर कार्यों से पाठक पहले परिचित हो चुके हैं, इस दृश्य मे उनके हृदय का कोमल पक्ष देखिए। अपने प्रति सिंहरण की प्रीति का परिचय पाने का जो ढंग अलका ने ग्रहण किया है सहृदयों को वह सुन्दर लगेगा। पर्वतेश्वर की प्रतिज्ञा उसके चरित्र पर प्रकाश डालने के साथ-साथ पाठकों की उत्सुकता बढ़ाती है।

छठा दृश्य—मालवों की युद्ध-परिषद्। चाणक्य के विचारों से सहमत होकर चंद्रगुप्त को मालवो और क्षुद्रको की सम्मिलित सेना का सेनापति नियुक्त किया जाता है। प्रभाव की दृष्टि से चाणक्य की वक्तृता बहुत ओजपूर्ण और सफल नहीं कही जा सकती। चरित्र-चित्रण का इस दृश्य में कोई प्रश्न नहीं उठता और कथा-संगठन की दृष्टि से यह दृश्य व्यर्थ भी है। चौथे दृश्य में चंद्रगुप्त ने और पाँचवें में अलका ने जिस प्रकार बीच की घटनाओं का संक्षेप में विवरण दिया है, उसी प्रकार इसका भी उल्लेख किया जा सकता था।

सातवाँ दृश्य—साधारण दृश्य जो इस बात की सूचना देता है कि नारी की सहज आकर्षण-शक्ति से अलका परिचित है। ललित स्वर में एक गीत गाकर वह पर्वतेश्वर को उन्मत्त बना कर उसकी विकलता से लाभ उठाती और छुटकारा पाने का उपाय सोच निकालती है।

दृश्य के अंत में अलका का एक स्वगत-कथन दिया गया है—मैं चलूँ, निकल भागने का ऐसा अवसर दूसरा न मिलेगा। इस कथन की विशेष आवश्यकता न थी; क्योंकि लेखक यदि अलका की सूझ-बूझ से पाठकों को परिचित कराना ही चाहता है तो दूसरे ही क्षण पर्वतेश्वर के चले जाने के पश्चात् एकांत में सारा रहस्य समझा सकता था।

आठवाँ दृश्य—यवनों को भारतीय सीमा के बाहर निकालने के आयोजन-का परिचायक दृश्य। 'हम लोगों ने महान् दायित्व उठाया है, इसका निर्वाह करना होगा', 'जीवन-मरण से खेलते हुए करेंगे

वीरवर।' चंद्रगुप्त और सिंहरण के ये दोनों वाक्य उनकी अंतिम देशभक्ति और साहसिकता का परिचय देते हैं। चंद्रगुप्त का यह कथन —'वे हमी लोगों के युद्ध हैं जिनमे रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छंदना से हल चलाता है। यवन आंतक फैलाना जानते हैं और उसे अपनी रणनीति का प्रधान अंग मानते हैं। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गाँवों को जलाना, उनके भीषण परंतु साधारण कार्य हैं।' यवन-रणनीति से भारतीय प्रणाली की श्रेष्ठता सिद्ध करता है।

इस दृश्य में चाणक्य की अनुपस्थिति दिखाने का उद्देश्य संभवत: यह सिद्ध करता है कि चंद्रगुप्त उसके न रहने पर भी युद्ध-कार्य का सचालन सतर्कता से कर सकता है।

नवाँ दृश्य—कल्याणी के लिए चाणक्य की विचित्रता और राक्षस के लिए विकटता सिद्ध करने वाला दृश्य जिससे हमें उसके मनोविज्ञान के पारखी होने का पता लगता है। कल्याणी चंद्रगुप्त से प्रेम करती है और राक्षस सुवासिनी को चाहता है तथा मगध का शुभचिंतक भी है, इन बातो का अध्ययन करके नीतिज्ञ चाणक्य दोनों के दुर्बल अंगों को अपना लक्ष्य बनाता है। कल्याणी जब मगध लौटने का प्रस्ताव करती है तो चाणक्य उत्तर देता है—परंतु राजकुमारी (तुम्हारे जाने से) उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा; वह बिना पतवार की नौका सदृश इधर उधर बहेगा। और जब राक्षस मगध की अविपन्नता का प्रश्न उठाता है तो उत्तर देता है—तो यवनों से कह दिया जाय कि हमारी क्षुद्र सेना तुम्हारे लिए मगध तक पहुँचने का सरल पथ छोड़ देने को प्रस्तुत है? राक्षस सारी स्थिति समझता है और कल्याणी के साथ वहीं रुकने का निश्चय करता है। कुछ देर बाद राजकुमारी के मच से चले जाने पर चाणक्य एक भेदभरी बात राक्षस से कहता है—नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित संबंध का विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा मगध लौटना ठीक न होगा। इस तरह कूटनीति से राक्षस और मगध की सेना को वहीं रोक कर यवनो को भ्रम में डाले रहने के प्रयत्न में चाणक्य सफल होता है।

दसवाँ दृश्य—द्वितीय अंक का अंतिम दृश्य। मालव दुर्ग के भीतरी भाग में सिकन्दर और सिल्यूकस से युद्ध। इतिहासों में लिखा है कि इसी युद्ध में सिकन्दर बुरी तरह घायल हुआ था और अन्त में इसी घाव से मरा भी। 'निरीह जनता का अकारण वध करने वाले नृशंस सिकन्दर को चंगुल में पाकर भी' 'भारत के ऊपर एक ऋण, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का प्रत्युत्तर देकर सिंहरण ने भारतीय वीरों की विशाल हृदयता का परिचय दिया है। इसी प्रकार अपने प्राण बचाने वाले यवन-सेनापति सिल्यूकस को चारों ओर से घेरकर भी बच कर निकल जाने देना कृतज्ञता का बोझ हलका करने का अपूर्व उदाहरण है। इन दोनों दृश्यों का संगठन करने से प्रसाद जी की राष्ट्रीयता के प्रति असीम भक्ति का बहुत सुन्दर परिचय मिलता है।

यवन-सेनापति का चित्रण यहाँ भद्दा हुआ है। सिकन्दर तो घायल था; यवन-सैनिक उसे उठा ले गए। युद्ध-क्षेत्र से इस प्रकार उसका हट जाना ठीक है! परन्तु 'मार्ग चाहते हो या युद्ध? मुझ पर कृतज्ञता का बोझ है, तुम्हारा जीवन। चन्द्रगुप्त के इस कथन को सुन कर कुछ सोचते हुए सिल्यूकस का यह उत्तर देना—'हम दोनों के लिए प्रस्तुत हैं; किन्तु......।' उसके चरित्र को बहुत गिरा देता है। चन्द्रगुप्त के प्रश्न की ध्वनि है कि मारते तो हम जरूर, पर खैर, तुमने मेरी जान बचाई थी, इसलिए एक बार तुम्हें छोड़ दूँगा अगर तुम माफी माँग लो। और सिल्यूकस उत्तर देता है—सामना हो गया है, इसलिए लड़ना तो पड़ेगा ही, किन्तु अगर एक बार प्राण-दान देते तो क्या कहना था! चन्द्रगुप्त सचमुच उसे माफ कर देता है; पर साथ ही एक आघात और करता है—जाओ, सेनापति, सिकन्दर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना। आशय यह कि तुम्हारे सम्राट् को भी हम पर आक्रमण करने का फल मिल चुका है; उन्हें भी हम क्षमा कर चुके हैं; जाओ।

तृतीय अंक

पहला दृश्य—नये अंक का पहला दृश्य नन्द की निन्दा और

चाणक्य की प्रशंसा से आरम्भ होता है। अमात्य राक्षस ने अनेक बार चाणक्य के कृत्यो पर आश्चर्य प्रकट करके पाठकों की दृष्टि में उसका सम्मान बढ़ा दिया है; परन्तु मगध-शासक नन्द के लिए अमात्य राक्षस ने कुछ विशेषण—यथा, 'मूर्ख मगधनरेश ने संदेह किया है,' 'क्रूरता और मूर्खता की प्रतिमूर्ति नन्द! एक पशु!' खटकते हैं। सिकन्दर द्वारा अलका की वीरता की प्रशंसा के उल्लेख से लेखक का उद्देश्य भारतीय गौरव-वृद्धि करना है। राक्षस को बन्दी करने के लिए सैनिको का आना अमात्य से बातचीत और नए सैनिकों का आकर पूर्वागतो को बन्दी कर लेना नाटकीय सक्रियता के लिए अच्छा है; पर चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस दृश्य मे कोई नवीनता नही है।

अमात्य राक्षस इस नाटक में आत्म सम्मान भाव से बिलकुल रहित चित्रित किया गया है; जो आता है 'भले ही वह राक्षस क्यों न हो' कह कर उसकी हँसी उड़ाता है और मजा यह कि राक्षस किसी की अपमानजनक बातों की ओर ध्यान नही देता।

दूसरा दृश्य—चरित्र-चित्रण और अभिनयात्मक क्रियाशीलता की दृष्टि से प्रथम दृश्य से कहीं अधिक सफल दृश्य। क्षोभ और क्रोध भरे जिस स्वगतकथन से इसका आरम्भ होता है वह अनिश्चित और अविश्वासयुक्त अभिमानी प्रकृति वाले व्यक्ति की विवशता का परिचायक होते हुए भी कुछ विलक्षण लगता है। क्षत्रिय वीर पर्वतेश्वर से चन्द्रगुप्त की प्रशंसा लेखक ने इसका गौरव बढ़ाने के लिए कराई है। चाणक्य के समझाने पर 'जिन यवनो ने लांछित और अपमानित किया है उनसे प्रतिशोध' लेने के लिए पर्वतेश्वर का तैयार हो जाना भविष्य के लिए पाठको की उत्सुकता बढ़ाता है। कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के वार्तालाप के दो उद्देश्य हैं—एक, इस यवनकुमारी से भारतवर्ष को 'मानवता की जन्मभूमि कहला कर प्राचीन भारतीय गौरव की अभिलषित वृद्धि करना और दूसरा, चन्द्रगुप्त के हृदय के कोमल पक्ष से पाठकों को अवगत कराना; सकेत करना कि वह इस सिल्यूकस पुत्री कार्नेलिया की ओर आकृष्ट है। फिलिप्स का सारा व्यवहार हास्यास्पद है। कार्नेलिया की एक बात का उत्तर देता हुआ

वह प्रवेश करता है; परन्तु चन्द्रगुप्त को देख भी नहीं पाता। तो क्या वह समझता है कि राजकुमारी दीवालों से बात कर रही है। कुछ देर बाद जैसे होश में आने पर उसे देख कर चौंकता है और तुरन्त कह उठता है—मैं तुमसे द्वन्द युद्ध किया चाहता हूँ। परन्तु चन्द्रगुप्त को प्रस्तुत पाकर न जाने क्यों टल जाता है—अच्छा, फिर कभी मैं तुम्हें आह्वान करूँगा।

चन्द्रगुप्त से कहा हुआ कार्नेलिया का यह वाक्य, 'किंतु मुझे विश्वास है कि मैं पुनः लौटकर भारत आऊँगी,' और चाणक्य का राक्षस को मूर्ख बना कर उसकी आंगुलीय मुद्रा ले लेना, दोनों कार्य कथा की भावी गति-विधि के लिये पाठकों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं।

तीसरा दृश्य—नाटक का सबसे छोटा परन्तु साथ ही भारतीय गौरव की याद दिलाने वाले उद्देश्य से युक्त महत्वपूर्ण दृश्य। सिकन्दर द्वारा भारत की प्रशसा और अभिनन्दन कराना सोद्देश्य है। 'जिस समय तुम भारत का सम्राट् होगे उस समय मैं उपस्थित न रह सकूँगा,' तैंतीस वर्ष की छोटी अवस्था में ही काल-कवलित होने वाले सिकन्दर का चन्द्रगुप्त से कहा हुआ यह वाक्य आगे चलकर कितना सार्थक सिद्ध होता है। अत्याचारी नन्द के हाथों से मगध का उद्धार करने में चन्द्रगुप्त की सहायता के लिए पर्वतेश्वर को प्रस्तुत होते देख पाठकों को आशा होती है कि चाणक्य को अपने प्रयत्न मे मगध में सफलता ही मिलेगी।

चौथा दृश्य—मगध के अत्याचारी शासन के ध्वंस की प्रस्तावना का परिचायक साधारण दृश्य। चाणक्य यहाँ गूढ़ नीतिज्ञ के रूप में चित्रित है; परन्तु उसके गौरव में छोटे के प्रति थोड़ी अवहेलना का भाव भी है। 'पिता के कारागार में होने पर भी आप मुझे मगध जाने से रोक रहे हैं?' चन्द्रगुप्त के इस प्रश्न के उत्तर में चाणक्य का यह कथन, 'यह प्रश्न अभी मत करो,' एक झिड़की नहीं तो क्या है? 'मगध जाऊँगा, देखूँ पर्वतेश्वर क्या कहते हैं?' भविष्य के सम्बन्ध

में चन्द्रगुप्त की यह शङ्का उसके चरित्र को ऊपर उठाने वाली नहीं है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य और पर्वतेश्वर के मंच पर आने के पूर्व अलका और सिंहरण का वार्तालाप भी निरर्थक-सा है। 'मैं चाणक्य के हाथ का पुतला बनकर मगध का नाश नहीं करा सकता,' राक्षस की इस स्वीकारोक्ति की ध्वनि कि वह अब तक जान-बूझ कर कठपुतली बना रहा, कितनी हास्यास्पद है। 'मालव कृतघ्न नहीं होते,' बार-बार सिंहरण का यह कथन भी उसके चरित्र की गंभीरता घटाता ही है। 'द्वन्द्व के लिये फिलिप्स का निमंत्रण' और मगध-शासन-परिवर्तन की योजना दोनों बाते यहाँ पाठकों की उत्सुकता बढ़ाने वाली हैं।

पाँचवाँ दृश्य—नन्द की मानसिक हलचल के साथ चरित्र की हीनता का परिचय इस दृश्य मे मिलता है। आरम्भ और विकास इस दृश्य का बड़ी सफलता से हुआ है, परन्तु अन्त मे राक्षस के पहुँचते ही अभिनय का सारा आकर्षण जाता रहता है। मगध-सम्राट् नन्द की रंगशाला में अमात्य राक्षस का इस प्रकार बेरोक टोक चले आना है भी तो खटकने वाली बात। 'अच्छा तो इस समय जाता हूँ' मगध-सम्राट् से कहा हुआ यह वाक्य भी सुन्दर नहीं बना।

छठा दृश्य—मगध-शासन-परिवर्तन का परोक्ष प्रयत्न। कुसुमपुर के 'नागरिक नन्द की उच्छृङ्खलता से बहुत असंतुष्ट' हो गये हैं; इस स्थिति से चाणक्य पूरा लाभ उठाता है। अपनी सफलता पर उसे पूर्ण विश्वास है; फिर भी अलका से कहे हुए 'चाणक्य अपना कार्य अपनी बुद्धि से साधन करेगा,' जैसे वाक्य उसकी कूटनीतिज्ञता के गौरव के सामने हमारा मस्तक झुकाने वाले नहीं हैं?

कुसुमपुर को सामने देखकर चाणक्य के हृदय मे सोई हुई बाल-स्मृतियाँ जाग उठना काव्य-कला की दृष्टि से सुन्दर है। सुवासिनी के प्रति हृदय मे उठती कसक भरी आवाज़ सुनकर भी विचलित न होना चाणक्य के चरित्र की दृढ़ता का द्योतक है। आत्माभिमानयुक्त सङ्कल्प की भयानक रमणीयता पर उसका मुग्ध होना भी सुन्दर है। हाँ, अभिनय की दृष्टि से एक पृष्ठ का यह स्वगत-कथन बहुत बड़ा हो गया है।

शकटार का चित्रण सफल है और उसके वक्तव्य से नन्द के क्रूर अत्याचारों का स्पष्ट परिचय मिलता है। 'सहायता, दुख, सावधान' जैसे सहानुभूति युक्त शब्दों को सुन कर उसके कहे हुए वाक्य बहुत सुन्दर हैं। हाँ, क्षण क्षण मे गिर पड़ते शकटार से लम्बे वाक्य कहलाना कुछ आलोचकों को खटक सकता है।

दृश्य के आरम्भ मे मालविका का यह स्वगत प्रश्न 'क्या चन्द्रगुप्त के लिए असत्य बोलना होगा ?' उसके हृदय की ओर संकेत तो करता है, परन्तु दूसरे ही क्षण मंच से उसके चले जाने के कारण पाठक उसको जल्दी ही भूल जाता है।

सातवाँ दृश्य—सेनापति मौर्य की स्त्री के प्रति नन्द के व्यवहार से लेखक उसके अत्याचार का एक और दृश्य दिखाना चाहता है। नंद का स्वगत-कथन उसकी मानसिक स्थिति का अच्छा परिचय देते हैं। 'जारजपुत्र' 'नीचजन्मा'। जैसे अपमानजनक शब्द सुन कर मगध के पूर्व सम्राट् महापद्म की हत्या करके सिंहासन पाने वाले नंद का अत्याचारी हो जाना स्वाभाविक ही है। दृश्य के अंत में राक्षस का पत्र पाकर नद उत्तेजित हो जाता है; परन्तु पत्र मे लिखा क्या है इसकी सूचना न देकर लेखक ने पाठकों की जिज्ञासा बढ़ाई है। 'राक्षस और सुवासिनी को चाहे जिस दशा में हों, पकड़ लाओ।' नन्द की यह आज्ञा सुन कर चाणक्य की पूर्व योजना सफल होते देख उसकी सफलता में पाठकों का विश्वास और भी बढ़ जाता है।

आठवाँ दृश्य—आरम्भ में चन्द्रगुप्त द्वारा फिलिप्स के द्वंद्व-युद्ध में मारे जाने की सूचना मिलती है। यवनों की गति-विधिका परिचय इसी प्रसंग में मिल जाता है। परन्तु पर्वतेश्वर तो पहले से चाणक्य के साथ है। उसे इन सब बातों को देखने का अवसर कैसे मिला ? क्या वह चाणक्य की इस आज्ञा का; 'तुम मेरे साथ मगध चलो', उल्लंघन कर पीछे ही रह गया था !

मौर्य और शकटार का परिचय उत्तेजित जनता को सफल ढंग से दिया गया है। 'मैं उन सब पीड़ित, आघात-जर्जर, पददलित लोगों का

संरक्षक हूँ जो मगध की प्रजा हैं', चन्द्रगुप्त का यह क्षत्रियोचित कथन सुन्दर है जिससे जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कराने में उसे पूरी सफलता मिलती है। शकटार की रक्षा का भार स्वयं निर्संकोच लेकर वह उसका प्रिय बन जाता है। आगे का दृश्य देखने के लिए इस समय हमारी उत्सुकता बहुत बढ़ जाती है।

नवाँ दृश्य—तृतीय अंक का अंतिम दृश्य। नन्द की जीवन लीला की समाप्ति के पश्चात् इसमे चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट् बनाया जाता है। नन्द के पक्ष की अति निर्बलता के कारण उसे पराजित देख कर कोई आश्चर्य नहीं होता और मच पर की गई नन्द की हत्या का भयानक कर्म देख कर यह प्रश्न ही मन में होता है कि अपने साम्राज्य में जो सम्राट् ऐसा निंदित था, वह इतने दिन तक सिंहासन पर रह कैसे सका। नन्द के बन्दी हो जाने के बाद चाणक्य का आकर उसे अपनी प्रतिज्ञा की याद दिलाना उसकी विवशता को मुँह चिढ़ाना ही है। क्रियाशीलता की दृष्टि से यह दृश्य सफल है; परन्तु आगे के कार्यक्रम के सम्बन्ध में कोई निश्चित संकेत यहाँ न रहने से पाठकों को कोई उत्सुकता नहीं रह जाती।

चौथा अंक

पहला दृश्य—पर्वतेश्वर के वध कल्याणी की आत्महत्या की भयानकता से पूर्ण साधारण दृश्य। इतिहास में सिकंदर से युद्ध के पश्चात् पौरव का कोई विवरण नहीं मिलता। इसलिए नाटककार उसके चरित्र का विकास अपनी इच्छानुसार करने को स्वतन्त्र था। परन्तु इस ग्रंथ मे पर्वतेश्वर का जो चित्रण मिलता है, वह उस प्रशंसनीय वीर के अनुपयुक्त समझा जायगा। पिता के विरोधी के प्रति अपने प्रणय को बढ़ते देख कठोरता से 'प्रेम-पीड़ा को पैरो से कुचलने' वाली कल्याणी का संकेतयुक्त चित्रण ऐसा है कि पाठकों की सहानुभूति उसके साथ हो जाती है। दो-दो हत्याएं इस दृश्य का एक दोष है और दृश्य के अन्त में केवल एक वाक्य कह कर चाणक्य का अपनी हृदय-हीन निष्ठुरता का परिचय देना दूसरा। चन्द्रगुप्त के दक्षिणापथ जाने की

सूचना पाठकों की उत्सुकता बढ़ाती है। नन्द का विरोध करने वाली मगध की प्रजा निष्कलंक कल्याणी की हत्या का क्या अर्थ निकालेगी यह भी हम जानना चाहते हैं।

दूसरा दृश्य—पिता की अनुपस्थिति में सुवासिनी ने नंद की रंगशाला में प्रवेश किया था ; पिता को पुनः पाकर उनकी संरक्षता में रहने को उसका तैयार हो जाना भारतीय गार्हस्थ्य धर्म के सर्वथा अनुकूल है। राक्षस इस निश्चय से क्षुब्ध होकर, चाणक्य के प्रति सुवासिनी के आकर्षण की आशंका से 'किसी दूसरे' को सम्राट् बनाने की बात सोच कर, मगध में विद्रोह की आग फैलाना चाहता है। अब तक उसने तत्व का कोई काम किया नहीं है; आगे वह क्या करेगा, किसे चन्द्रगुप्त का प्रतिद्वंद्वी बनाएगा। यह सब जानने के लिए हमारी उत्सुकता बढ़ती है।

तीसरा दृश्य—कथा-विकास के लिए सुन्दर दृश्य जिसमें मगध-परिषद् में मत-विरोध की सूचना मिलती है। चाणक्य की ओर से सुवासिनी का मन हटाने के लिए राक्षस ने झूठ ही यह कह कर कि चाणक्य ने तुम्हारे पिता का अपमान किया है, चरित्र की क्षुद्रता का हीनतम परिचय दिया है। नवीन यवनाक्रमण की सूचना आगे होने वाले युद्ध और उसके परिणाम के लिए पाठकों को चिंतित करती है। परिषद् की इच्छा के विरुद्ध होकर चाणक्य के विजयोत्सव रोकने का कारण दृश्य के अन्त में मालूम होता है कि पाटलीपुत्र षड्यन्त्रों का केन्द्र हो रहा है। एकान्त में सुवासिनी को पाकर चाणक्य का अपने को वश में न रख सकना, आँखों में उसकी 'दुर्बलता' का नवीन चित्र दिखाई देना, एक कलापूर्ण संकेत है जो सूचित करता है कि निष्ठुर कर्मों में आनन्द लेने की क्रूर प्रतिज्ञा करने वाला चाणक्य भी हृदय रखता है, किसी अलौकिक लोक का जीव नहीं, दुर्बल मानव-समाज का ही एक प्राणी है। इतने वर्ष पश्चात् जिन्हें पाया है, उन्हीं माता-पिता के रुष्ट होकर चले जाने का चन्द्रगुप्त पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह जानने के लिए हम उत्सुक हैं।

चौथा दृश्य—भावपूर्ण सुन्दर दृश्य जिसमें संकेतो द्वारा भयंकर संघर्ष की निरतरता से ऊबे, 'घने प्रेम-तरु तले' का सुखद शीतल विश्राम चाहते चंद्रगुप्त के भावुक हृदय से पाठक को परिचित कराया गया है। अधिकार-सुख और पद के आडम्बरपूर्ण गौरव-सम्मान से ऊब कर, आज वह प्रेममय साथी की मधुर मुस्कान का भूखा है जिसका वह विश्वास कर सके, जिसमे संवध की अभिन्नता का सरस अनुभव कर सके। 'स्मरण आता है मालव का उपवन और उसमे अतिथि रूप में मेरा रहना ? चंद्रगुप्त के इस वाक्य से मालविका के प्रति उसके आकर्षण की स्मृति का पता लगता है। सरल बालिका मालविका 'बहुत दिनों मे' सजा सजा कर बनाई सुमनों की एक माला पहना कर ही अपनी चिरसंचित अभिलाषा पूरी करती है। पश्चात्, स्मृति और अनुराग को सुलाकर अपने चिरदुखी जीवन का अन्त करने के लिए वह स्वयं सो जाती है। 'आज घातक इस शयनगृह में आयँगे ?' यह सूचना पाकर मालविका के जीवन के लिए पाठक चितत हो जाते हैं।

पाँचवाँ दृश्य—साधारण दृश्य अदूरदर्शी शासक की भाँति माता-पिता के जाने का कारण समझने का प्रयत्न न करके चाणक्य से जवाब-तलब करना चन्द्रगुप्त के गौरव के अनुकूल नही है। इसी तरह ब्राह्मणत्व पर गर्व करने वाले दूरदर्शी और विज्ञ अमात्य चाणक्य का क्षुब्ध हो उठना भी प्रकृति की गम्भीरता का परिचय नहीं देता। स्वर्गीय कुसुम मालविका की हत्या की सूचना पाकर चन्द्रगुप्त के साथ पाठक भी एक बार 'आह' करके रह जाता है। नाटककला की दृष्टि से यह हत्या कहाँ तक आवश्यक थी यह विचारणीय है। राक्षस हत्यारो का नेता बना और युद्ध मे उनके साथ पकड़ न जाकर भाग निकला, यह सूचना पाठक की उत्सुकता बढ़ाती है। माता-पिता, गुरुदेव मालविका और सिंहरण सभी के चले जाने के बाद, षड्यंत्रो के केन्द्र पाटलीपुत्र में अकेला चंद्रगुप्त कैसे रहेगा, आगामी यवनाक्रमण का सामना कर सकेगा या नहीं आदि जानने के लिए हम उत्सुक हैं।

छठा दृश्य—नाटक का कदाचित् सबसे बड़ा दृश्य जिसमे कथा की गति-विधि के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम पड़ती है। 'राक्षस अब यवन-सम्राट् सिल्यूकस की कन्या को पढ़ाने के लिए वहीं रहता है और यह सारा कुचक्र उसी का है,' इस तरह एक नये देशद्रोही की उत्पत्ति आगामी युद्ध का परिणाम अनिश्चित कर देती है; परन्तु आंभीक का इस युद्ध मे यवनों का साथ न देकर उनका विरोध करने को तैयार हो जाना भारतीय सफलता के लिए एक कला-पूर्ण संकेत है। 'चन्द्रगुप्त और यवनबाला के परिणय' का प्रस्ताव चाणक्य को करते देख कर हम यह जानने के लिए उत्सुक होने हैं कि स्वाभिमानी यवन सम्राट् उसे किस रूप में स्वीकार करेगा।

भावों के उत्थान-पतन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह दृश्य सफल कहा जायगा। देश-द्रोह सम्बन्धी अपने पिछले कार्य से असंतुष्ट आंभीक के सामने अलका को देश में जागृति फैलाते देख, पूर्व नीच कर्म का प्रायश्चित करने के लिए उत्तेजित होकर पहले तो उसका तैयार हो जाना, परन्तु दूसरे ही क्षण राज्य-त्यागने की समस्या सामने आने पर पुनः मोह में पड़ जाना, उसके-से चरित्र वाले व्यक्ति के लिए कितना स्वाभाविक है। सुवासिनी और चाणक्य का कोमलतम सम्बन्ध स्वस्थ वासना के मानवीय धरातल को नीचे छोड़कर त्याग और संयम के स्वर्गीय क्षेत्र की ओर बढ़ता है। ब्राह्मणत्व पर गर्व करने वाला चाणक्य इस प्रकार कर्मक्षेत्र में अपनी शक्तियों का चरम विकास और इंद्रियों का पूर्ण निग्रह करके आर्य दांड्यायन के आश्रम में पहुँचने का पुण्यपथ पा लेता है।

इस दृश्य में कई बातें खटकती भी ह। आरम्भ ही इसका सुन्दर ढंग और उचित विषय से नहीं हुआ है। 'बताओ नया समाचार क्या है?' इस प्रश्न का पूरा उत्तर पाकर कात्यायन से एक बार चाणक्य कहता है—'जितना शीघ्र हो सके मगध पहुँचो; 'परन्तु सुवासिनी के सम्बन्ध में बात करते करते पुनः पूछ बैठता है—'अच्छा बताओ काम कहाँ तक हुआ?' उसके-से दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की यह भूल कैसी? यदि कात्यायन सुवासिनी के प्रसंग में अपनी शंका न करत

और चाणक्य की आज्ञा मान कर मगध चला जाता तो यह नया प्रश्न करके 'काम कहाँ तक हुआ' वह किससे मालूम करता ? आंभीक के आते ही चाणक्य उसे याद दिलाता है—'एक दिन मैंने कहा था सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय;' और जब आंभीक स्वयं अपने पूर्व कर्म के लिए पश्चाताप करता हुआ कर्तव्यपरायणता की शपथ खा रहा है, तब सिंहरण कहता है—'मनुष्य साधारण-धर्मा पशु है'—ये दोनों कथन अवसर के उपयुक्त नहीं प्रतीत होते। 'सम्राट् की मानसिक वेदना' के प्रसङ्ग में सिंहरण और अलका का वार्तालाप व्यर्थ ही है। हाँ उस सम्बन्ध मे चाणक्य का चुपचाप रहना, संभव है, सुन्दर समझा जाय और दृश्य का अंत भी चमत्कारपूर्ण ढंग से किया गया है।

सातवाँ दृश्य—साधारण दृश्य जिसमें 'देशद्रोही' कह कर राक्षस की हँसी उड़ाई जाने पर भी वह लज्जित नहीं होता। यवन-कुमारी कार्नेलिया का सरल चरित्र इस दृश्य की एक विशेषता कही जा सकती है। 'निर्मल ज्योति का देश, पवित्र भूमि' इत्यादि कहने से इस ग्रीक-बाला का भारतप्रेम प्रकट होता है। आंभीक और चाणक्य के सम्बन्ध मे सिल्यूकस अपनी कन्या को रहस्य का जो बातें बतलाता है, वे हमें पहले ही मालूम हो चुकी हैं। कभी पढ़ने और कभी पढ़ना बन्द करने की उसकी विरोधी आज्ञाएँ यवन सम्राट् सिल्यूकस की बुद्धिहीनता की ओर सकेत-स्वरूप हैं।

आठवाँ दृश्य—चाणक्य और सिंहरण की अनुपस्थिति में चन्द्रगुप्त की मानसिक स्थिति और युद्धनीति का परिचायक छोटा दृश्य। बात बात में उत्तेजित होकर 'युद्ध मे मरण से भी अधिक भयानक का आलिंगन करने के लिए' चन्द्रगुप्त का प्रस्तुत हो जाना उसके आत्म-विश्वास का तो कम, पर मानसिक अधीरता का अधिक परिचय देता है।

नवाँ दृश्य—भावप्रधान सुन्दर दृश्य, यौवन, प्रेम और स्मृति की काव्योपम व्याख्या ने जिसे महत्वपूर्ण बना दिया है। कार्नेलिया के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति स्मृति जगाने के लिए सुवासिनी यवन-शिविर

बन्दी होकर आई है; पर हम देखते हैं कि कार्नेलिया स्वयं ही चन्द्र.. की ओर आकृष्ट है और नहीं चाहती कि यवन-सम्राट् उससे युद्ध करे। 'कल युद्ध होगा' विजय की पूरी आशा लिए सिल्यूकस के मुख से ये शब्द सुनकर आगे का समाचार जानने को हम उत्सुक हैं।

दसवाँ दृश्य—युद्ध का अनिश्चित परिणाम-सूचक दृश्य। चाणक्य के समीप रहने से चन्द्रगुप्त की विजय की हमें आशा होती है। 'चन्द्रगुप्त के पराक्रम की अग्नि मे घी डालने का काम' चाणक्य ने एक चर को सौंपा है, किसी नायक को सौंपता तो क्या हानि थी?

ग्यारहवाँ दृश्य—युद्ध का अन्त। सिल्यूकस की पराजय। चन्द्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया के प्रेम का परिचय देना और सिल्यूकस को 'सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देने' की चन्द्रगुप्त की महत्ता से यवन सम्राट् को चकित कराना, सक्षेप मे ये ही इस दृश्य के संकेत हैं।

बारहवाँ दृश्य—चाणक्य की दूरदर्शिता को सत्य सिद्ध करने वाला दृश्य। भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त को कन्या देने की बात सुन कर एक बार उत्तेजित होकर सिल्यूकस शान्त और सहमत हो जाता है। पिता-पुत्री की भेंट का दृश्य सुन्दर है। खटकने वाली एक बात इस दृश्य में यह है कि नाटककार यवन सम्राट् और उसके सहचरों को शिविर में न दिखा कर पथ मे क्यों भटका रहा है। सार्वजनिक पथ पर पुत्री कार्नेलिया के हृदय की थाह या प्रेम की परीक्षा लेने के लिए सिल्यूकस का तैयार हो जाना कितना अनुचित है। पिछले दृश्य मे चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के सामने जो यवन सम्राट् अपनी पराजय स्वीकार कर चुका है, उसी का इस दृश्य में साइबर्टियस और मेगास्थनीज के सामने 'युद्ध होगा, हम सबको मरना होगा' कहना कुछ जँचा नही।

तेरहवाँ दृश्य—पूर्वांतिम दृश्य जिसमें चन्द्रगुप्त पक्ष का 'सब विवाद मिट जाता है।' मौर्य सेनापति चाणक्य को मारने का असफल प्रयत्न करने पर क्षमा कर दिया जाता है और राक्षस भी इस ब्राह्मण

की महत्ता स्वीकारता है। गुरुवर के वध को प्रयत्नशील पिता के दंड की व्यवस्था करने वाले चन्द्रगुप्त में चाणक्य की तरह सब विश्वस्त होते हैं कि वह अपना कर्तव्य कर लेगा। 'चन्द्रगुप्त क्षमा का भिखारी नहीं, न्याय करना चाहता है। बतलाइए, पूरा विवरण सुनना चाहता हूँ और पिता जी आप शस्त्र रख दीजिये।' चन्द्रगुप्त का यह कथन उसकी प्रकृति की उत्तेजना भर सिद्ध करता है, शासकोचित गंभीरता नहीं। यदि यह कथन निकाल दिया जाय तो विशेष हानि नहीं होगी। दृश्य के अन्त में 'आर्य, आप उस समय न उपस्थित होंगे ?' चन्द्रगुप्त के इस प्रश्न के उत्तर में चाणक्य का उत्तर कि 'देखा जायगा' कुछ महत्वपूर्ण नही जान पड़ता। यह प्रश्नोत्तर भी न रहता तो क्या हानि थी ?

चौदहवाँ दृश्य—नाटक का अन्तिम परन्तु साधारण दृश्य जिसमें चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस की सन्धि हो जाती है और चाणक्य के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर यवन सेनापति भारत सम्राट् को अपनी कन्या सौंपता है। आरम्भ इस दृश्य का सुन्दर नहीं हुआ है। 'आज मैं विजेता नही, विजित से अधिक भी नहीं, मैं सन्धि और सहायता के लिए आया हूँ'—सिल्यूकस के इस कथन के उत्तर में चन्द्रगुप्त का यह कहना कि 'कुछ चिंता नहीं सम्राट्' कितना लचर और तिरस्कार पूर्ण है। फिर भी दृश्य का अतिमांश भारतीय गौरव बढ़ाने वाला है।

चरित्र-चित्रण

साधारण जनसमाज जिन व्यक्तियों में असाधारण गुण देखता है, स्वभावतः उनका सम्मान करने लगता है, उनके आगे श्रद्धा से मस्तक झुकाने में अपना गौरव समझता है। आशय यह कि समाज में उनके चरित्र की विशेषताओं की चर्चा बड़े चाव से होती है। धीरे धीरे उनकी महान् विशेषताएँ अतिरंजित रूप मे प्रसिद्ध हो जाती हैं। उनका एक एक सूत्र अपनाकर अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार लोग गढ़ लेते हैं। इतिहास प्रसिद्ध ऐसे ही पात्रों को नाटककार अपनी रचना के प्रमुख पात्र

बनाता है जिनके चरित्र मानव-हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखते हों। यह प्रयत्न वीर-पूजा का एक सुन्दर रूप है और इससे हमें नाटककार के राष्ट्रीयता के प्रति प्रेम का परिचय मिलता है।

'प्रसाद' जी भारत के प्राचीन गौरव पर गर्व करने वाले राष्ट्रीयता के घटक रंग में रँगे ऐसे ही कुशल नाटककार हैं जिन्होने भारतीय इतिहास के उस उन्नत हिंदू काल की प्रमुख घटनाओं को अपने ग्रंथों के लिए चुना है जिस पर आज का कोई भी सभ्य देश गर्व कर सकता है। इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं से घनिष्ठतम रूप में संबंधित पात्रों के प्रति अपने ग्रंथों मे उन्होने प्रेमीजनोचित श्रद्धा दिखाई है; उनके गौरव और महान् कार्यों का सविस्तार वर्णन किया है। किसी व्यक्ति के गुण-दोष की चर्चा यदि उससे संबंधित व्यक्ति द्वारा ही कराई जाय तो वह विशेष चमत्कारपूर्ण और प्रभावशालिनी नहीं होती। इसीलिए परोक्षरूप से अपने पात्रों के गौरवगान का कलापूर्ण प्रयत्न 'प्रसाद' जी ने यह किया है कि प्रतिष्ठित भारतीय पात्रों की महत्ता से चमत्कृत होकर समकालीन विपक्षी, विदेशी वीर नायक और विदेशी यात्री मुक्तकंठ से उनके असाधारण गुणों की चर्चा करें। 'राज्यश्री' में चीनी यात्री हुएनसाँग और 'स्कंदगुप्त' में सिंहलकुमार धातुसेन अनेक बार हर्ष से क्रमशः सम्राट् हर्ष और युवराज स्कंदगुप्त की महत्ता से चकित होकर अपने प्रशंसात्मक उद्गार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत नाटक मे पौरव, पर्वतेश्वर, चंद्रगुप्त, चाणक्य और अलका की प्रशंसा नाटककार ने जगद्विजेता सिकंदर, यवन-सेनापति सिल्यूकस, मगध-अमात्य राक्षस इत्यादि के द्वारा कराई है। चंद्रगुप्त के मुख का तेज इतना असाधारण है कि उसे हारे-थके और शिथिल रूप में देख कर भी सिल्यूकस के मुख से निकल जाता है यह तो कोई बड़ा श्रीमान् पुरुष है! दांड्यायन के आश्रम मे सिकंदर भी चकित होकर पूछता है—यह तेजस्वी युवक कौन है? इसी तरह पौरव पर्वतेश्वर की वीरता की प्रशंसा सिकंदर करता है। अलका के साहस पर प्रसन्न होकर उसने उसे देखने की इच्छा प्रकट की है।

चाणक्य के नीति और दूरदर्शिता से अमात्य राक्षस बार बार चकित होता है और सम्राट् होने पर यवनसेनापति सिल्यूकस कहता है—उस बुद्धिसागर, आर्यसाम्राज्य के महामंत्री, चाणक्य को देखने की बड़ी अभिलाषा थी।

परन्तु राष्ट्रीयता के भक्त होने के नाते, प्राचीन भारतीय गौरव की रक्षा करने के उद्देश्य से विदेशी महत् चरित्रों को विशेषतारहित रूप में चित्रित करना और इस प्रकार अपनो के प्रति पक्षपात दिखाना, किसी भी उदार साहित्यिक के लिए बहुत प्रशंसा की बात नहीं है और फिर सहिष्णु तथा निर्लेप भारतीय संस्कृति और गौरव पर गर्व करने वाले लेखक के लिए तो कदापि नहीं है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के सभी विदेशी वीर कुछ ऐसी गुणरहित प्रकृति के चित्रित किए गये हैं कि उनके प्रति हम जरा भी आकर्षित नहीं होते। जिस जगद्विजेता सिकंदर ने भारतीय वीर पर्वतेश्वर के साहसपूर्ण शौर्य पर मुग्ध होकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया था, वह इस नाटक में लूट, हत्या और भय द्वारा आतंक फैलाने वाले हृदयहीन योद्धा के रूप में सामने लाया गया है। और बुद्धिहीनता सिद्ध करने के लिए आंभीक, फिलिप्स, एनिसाक्रिटीज इत्यादि के सामने यवन-सेनापति सिल्यूकस 'अविवेकी' कह कर भर्त्सना करता है। लूट में मिली दारा की कन्या को उसने जबरदस्ती अपनी स्त्री बना कर नृशंस लुटेरा होने का ही परिचय दिया है; तभी तो 'वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका सम्राज्ञी कहने से तिलमिला जाती है'।

यवन सम्राट् की तरह ही यूनानी सेनापति सिकंदर का चरित्र भी विशेषतारहित है—विशेषतारहित ही क्यो उसे तो 'प्रसाद' जी ने बिलकुल कायर और बुद्धि हीन ही बना दिया है। सिंहरण के सामने से वह भाग निकलता है और मालव के युद्ध में यह पूछे जाने पर कि तुम युद्ध चाहते हो या सन्धि, उत्तर देता है कि हम दोनो के लिए तैयार हैं जिसका संकेत यह हुआ कि युद्ध टल जाय और प्राण-भिक्षा मिल जाय तो अति उत्तम। मूर्ख वह इतना है कि अलका के लिए सिंहरण द्वारा दो बार 'राजकुमारी' का संबोधन सुन कर भी गांधारनरेश के

सामने काँपते हुए स्वर में कहता है—मुझे नहीं मालूम था कि ये राजकुमारी हैं। दांड्यायन के आश्रम में जब सिकंदर उससे पूछता है—तुम्हारा चंद्रगुप्त से परिचय कब हुआ, तब सिल्यूकस का निरर्थक उत्तर है—मैं इन्हें पहले से जानता हूँ।

यवनों का दूसरा सेनापति फिलिप्स भी इसी प्रकार एक निर्लज्ज लंपट के रूप में हमारे सामने आता है जो एकांत में कार्नेलिया को पाकर, इधर उधर देखकर जबरदस्ती उसका कोमल कर चूमना और इस प्रकार अपने उस प्रणय का परिचय देना चाहता है जिसे उसका हृदय पहचानता है। परन्तु इसी क्षण जब चन्द्रगुप्त आकर, उसे गर्दनिया देकर धकियाता है, तो चुपचाप नतमस्तक वह चला भी जाता है। ऐनिसाक्रिटीज और मेगास्थनीज के चरित्र भी अनाकर्षक ही हैं। सारांश यह कि विश्व के इस महान् विजेता और उसके निकटतम सहायकों को इस रूप में चित्रित करना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

चन्द्रगुप्त

स्वातंत्र्य-प्रेमी यह युवक 'प्रत्येक निरपराध आर्य की स्वतन्त्रता' की घोषणा करता हुआ मच पर प्रवेश करता है। उसके स्वभाव में बालकों की सी चपलता है और देश-प्रेम-संबन्धी उसका दृष्टिकोण संकुचित है। 'हम मागध हैं और यह (सिंहरण) मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल मे हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते'—चन्द्रगुप्त का यह कथन सीमित मनोवृत्ति का परिचय देकर दर्शकों को एक बार चौंका देता है; परन्तु दूसरे ही पल अपने विचारों की व्याख्या करके, 'आत्मसम्मान के लिए मर-मिटना ही जीवन है,' कह कर वह पाठकों की दृष्टि में अपने गौरवपूर्ण पद की रक्षा कर लेता है। भारत के भावी पतन के लिए चाणक्य को चिंतित देखकर उसका यह कहना—'यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ भी न रह सकेंगे'—उसके असीम आत्मविश्वास का परिचायक है। यवनों को भारत में शांति से आगे न बढ़ने देना और 'प्रतिपद में बाधा देना' उसने अपना

कर्तव्य निश्चित किया है और इसके लिए शक्ति भर वह प्रयत्न भी करता है। उसकी इच्छा है—इस जगद्विजेता का ढोंग करने वाले को एक बार पराजय का पाठ पढ़ा दिया जाय—और बड़ी योग्यता से अपनी यह इच्छा पूरी भी करता है।

निर्भीकता उसकी बहुत बढ़ी-चढ़ी है। सिंहरण ने अकेले आंभीक से निडर होकर वार्तालाप किया और उस समय उसकी सहायता के लिए चाणक्य था, चन्द्रगुप्त भी था और सम्भवतः आवश्यकता पड़ने पर अलका भी उसी के पक्ष मे बोलती। चाणक्य ने मगध और पौरव दरबार में निडर होकर जो वाक्य कहे उनके मूल में देश-प्रेम और राष्ट्र-कल्याण-भावना की ऐसी प्रभावशालिनी शक्ति थी जो अधिकांश श्रोताओ को अपने पक्ष मे करने के गुण से युक्त है। परन्तु यवन-शिविर मे जाकर, यवन-सेनापतियो से और आंभीक जैसे देश-द्रोहियो से घिरे सिकंदर के सामने चन्द्रगुप्त ने अत्यन्त साहस-पूर्वक जिस निर्भीकता का परिचय दिया है, वह कही अधिक महान् है और स्वय सिकन्दर भी उससे चकित रह जाता है। 'हमारी सेना तुम्हारी सहायता करेगी'—सिकन्दर की गूढ़ार्थ भरी इस उक्ति को सुनते ही चन्द्रगुप्त असीम आत्मविश्वास युक्त स्वर में उत्तर देता है—मुझे आपसे सहायता नही लेनी है। मै यहाँ यवनो को अपना शासक बनाने को आमन्त्रित करने नही आया हूँ। × × ×। मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज आंभीक समझने की भूल न होनी चाहिये। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ; परन्तु यवन-लुटेरों की सहायता से नहीं। × × ×। लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियो को एकत्र करके उन्हे वीर सेना कहना, रण-कला का उपहास करना है। निर्भीकता का कितना उत्तम परिचय इन वाक्यो से मिलता है! क्षुद्र हृदय आंभीक यवन-सम्राट् के सामने चन्द्रगुप्त को ऐसी बातें कहते सुनकर सलाह देता है—शिष्टता से बातें करो; और चन्द्रगुप्त थप्पड़-सा उत्तर देता है—स्वच्छ हृदय भीरु-कायरो की सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य! देशद्रोही! आंभीक! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।

वीर वह इतना है कि यवन-सेनापतियों से घिरे रहने पर भी असाधारण वीरता दिखा कर सुरक्षित निकल जाता है। चाणक्य और सिंहरण जब दोनों उसे छोड़ कर चले जाते हैं, तब भी वह धैर्य और साहस नहीं छोड़ता। युद्धक्षेत्र के समीप नायक और सैनिकों को उत्साहित करते हुए वीरोत्तेजक शब्दों में वह कहता है—नायक ! तुम खड्ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिए सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते ? बोलो ! चन्द्रगुप्त के नाम पर प्राण दे सकते हो ? मैंने प्राण देने वाले वीरों को देखा है। चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रखो, उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगलगान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ; मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ ! चिंता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव साथ न दें। डर क्या ! सैनिको ! सुन लो, आज से मैं केवल सेनापति हूँ और कुछ नहीं ! जाओ, यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो। कह देना कि 'तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण ! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।' जाओ।

सेनापति का पुत्र होने के नाते कुशलतापूर्वक सैन्य-संचालन की सहज योग्यता उसमें है। मगध का इंद्रजाल बन कर आतंकित यवन-सेना में नन्द के पास लक्षाधिक सेना होने की बात कह कर विद्रोह फैला देता है। कल्याणी के साथ आई हुई छोटी सी मागध सेना को भुलावा देता है कि विपाशा पार करने पर मगध साम्राज्य ध्वंस करना यवनों के लिए बड़ा साधारण काम हो जायगा। और यवनों का विरोध करने के लिए मागध सैनिक जब तैयार हो जाते हैं तब समझाता है—विपाशा और शतद्रु के बीच जहाँ अत्यन्त संकीर्ण भूभाग है वहीं अपनी सेना रखो और सिकंदर के सामने इतना विराट-प्रदर्शन होना चाहिये कि वह भयभीत हो जाय। उधर सिंहरण को सुझाता है—थोड़े से साहसी वीर मुझे चाहिए। यवनों की जल-सेना पर आक्रमण करना होगा; विजय के विचार से नहीं, केवल उलझाने और उनकी सामग्री नष्ट करने के लिए।

मनुष्यता का एक लक्षण है उपकारी का कृतज्ञ होना और

भारतीयो की प्रकृति में यह विशेषता जन्मजात समझनी चाहिए। यवन सेनापति सिल्यूकस ने सिंह से चन्द्रगुप्त की रक्षा की और इसलिए आमन्त्रित किए जाने पर चन्द्रगुप्त निशक यवन-शिविर में वास करने चल देता है। पश्चात्, मालव-युद्ध में सिल्यूकस जब दोनो ओर से घिर जाता है और यवन-सेना के साथ सेनापति के प्राण भी संकट में पड़ जाते हैं तब चन्द्रगुप्त 'कृतज्ञता का भार ' हलका करने के लिए उसको जीवनदान देता है।

उसकी न्यायप्रियता भी असाधारण ही समझी जानी चाहिए कि पिता को रुष्ट करने के लिए जिन गुरुदेव से वह उत्तर चाहता है उन्ही को मारने के लिए जब पिता को प्रस्तुत पाता है, तब उन्हें भी न्यायाधीन घोषित करता और उनका न्याय करने को तत्पर होता है। इस अवसर पर पिता से अस्त्र ले लेने के लिए उसका सिंहरण को आज्ञा देना यह सूचित करता है कि इस प्रसग मे वह पर्याप्त गम्भीरता से अपना दायित्व समझ रहा है।

चद्रगुप्त के चरित्र की एक अत्यत प्रिय विशेपता है—हृदय की भावुकता पर उसका संयमयुक्त नियंत्रण। तक्षशिला से स्नातक होकर लौटने पर जब नंदकुमारी कल्याणी प्रेम के उपालंभ भरे स्वर मे कहती है—'परंतु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे, तब चद्रगुप्त सरल ढंग से बात बदल कर उत्तर देता है—देवि, यह अनुचर सेवा के उपयुक्त अवसर पर ही आ पहुँचा। चलिए शिविका तक पहुँचा दूँ। कुछ दिन बाद एक बार पुनः कल्याणी उसी चंद्रगुप्त को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती है; उसके शब्द हैं—(युद्धक्षेत्र में आई हूँ) केवल तुम्हें देखने के लिए ! मै जानती थी कि तुम युद्ध मे अवश्य सम्मिलित होगे और मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणों में एक मै भी हूँ। इस बार भी चद्रगुप्त धैर्य से काम लेता है—राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृति-लता मुरझा गई है ! समय नही ! इस प्रकार कल्याणी अपने प्रथम दो प्रयत्नों में विफल होती है। युद्ध-भूमि छोड़ कर मगध लौटने के पूर्व एक बार पुनः चंद्रगुप्त के हृदय की थाह लेने के लिए

पुछवाया—आप कब तक मगध लौटेंगे ? राजकुमारी का संकेत चंद्रगुप्त समझ जाता है और उसका निश्चित उत्तर है—"मैं सेनापति का पुत्र हूँ, युद्ध ही मेरी आजीविका है।"

सिंधुकुमारी मालविका को मालवीय उद्यान में एकाकी पाकर चंद्रगुप्त के मन में न जाने क्यों और कैसी भावना जाग जाती है कि वह उस सरल बालिका से पूछ बैठता है—मालविका, तुमको कुछ गाना आता है। उत्तर में वह सचेत करती है—युद्धकाल है, देश में रणचर्चा छिड़ी है। आजकल मालव स्थान में कोई गाता-बजाता नहीं। और तभी सम्हल कर संयत स्वर मे चंद्रगुप्त अपनी सफाई देता है—रणभेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूँ तो कोई हानि न होगी। इस सीधे-साधे वाक्य का गूढ़ार्थ चद्रगुप्त ने स्वयं आगे स्पष्ट कर दिया है—शुभे, मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ।

बात यह है कि अवस्थाविशेष पर पहुँच कर मानव के भूखे हृदय में विलास की स्वस्थ वासना का स्वभावतः जन्म होता है। पशु में इस नैसर्गिक वृत्ति को दबाने की क्षमता नहीं होती और इसलिए जो व्यक्ति इस प्राकृतिक भूख के कारण जितना विफल हो जायगा, पशु-वर्ग से उसका उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, ऐसे व्यक्ति मे मानवी संस्कारोचित संयम का अभाव रहेगा। परंतु निश्चित यह भी है कि अधिक समय तक संयम के बल पर यदि प्रकृति की इस पुकार को अधिकारपूर्वक अन-सुन कर दिया गया तो हृदय विद्रोह भी करने लगता है। अतः संयम की स्थिति मे मन को वासना से हटा कर दूसरी ओर टिकाने के लिए कोई आवश्यक और आकर्षक आधार चाहिए। यह शक्ति उसी समय तक बढ़ी रह सकेगी जब तक आधार का आकर्षण रुचिकर नवीनता लिए रहेगा; इसके अनाकर्षक होते ही, आधार के अभाव की ठोकर खाकर, भूखा हृदय सचेत होकर पुनः अपनी भूख के लिए हाहाकार कर उठेगा।

यही स्थिति चंद्रगुप्त की है। कल्याणी जब उसकी ओर प्रेम

का प्रसाद लेकर सहर्ष और स्वतः बढ़ती है तब कर्तव्य-भावना का उदय चद्रगुप्त के भूखे हृदय को उसकी ओर से अपनी तरफ खींच लेता है। विदेशियों से युद्ध, मगध-शासक से युद्ध, दिग्विजय-प्रसंग में अनेक छोटे-बड़े राजाओं से युद्ध—देश के प्रति कर्तव्य के ये विभिन्न अंग जब तक उसे एकाग्र किए रहते हैं, कल्याणी के प्रेम का वह, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तिरस्कार ही करता है; और मालविका के इस भोले-भाले प्रश्न को—मागध, तुमको देख कर तो मैं चकित हो जाती हूँ ! कभी इंद्रजाली, कभी कुछ ! भला इतना सुंदर रूप तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है ?—वह हँस कर टाल देता है, परवाह ही नही करता है, कहता है—तुम इन बातों को पूछ कर क्या करोगी ? और इतना कह कर वहाँ से चला भी जाता है।

परन्तु कर्तव्य के इस आधार से ज्योंही उसका मन ऊब जाता है, उसका भूखा हृदय चिल्ला उठता है—मैं सबसे विभिन्न, एक भय-प्रदर्शन सा बन गया हूँ, कोई मेरा अंतरंग नही। मालविका आज भी उसके सामने है। आज वह स्वयं मालव उद्यान वाले स्नेह मिलन की याद दिलाता है—स्मरण आता है मालव का उद्यान और उसमें अतिथि रूप में मेरा रहना ? मालविका इस बार स्वयं सचेत है। पहली बार चंद्रगुप्त ने देशीय परिस्थिति की बात कह कर उसके सरल प्रेम की उपेक्षा की थी, आज वह सम्राट् की हार्दिक 'बिछलन' का परिचय पाकर उसे सचेत करना चाहती है—सम्राट्, अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने हैं। चंद्रगुप्त अपने को रोक नही पाता; कर्तव्य-पालन के नाम पर जिन संघर्षों में अब तक वह फँसा रहा, उनमें कोई आकर्षण शेष नहीं है। इसलिए मालविका की बात सुनते ही उसका हृदय बिलख उठता है—संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध ; भावों का अभाव से द्वंद्व ! कोई कमी नही, फिर भी न जाने कौन मेरी संपूर्ण सुची में रिक्त चिन्ह लगा देता है। मालविका, तुम मेरी तांबूलवाहिनी नहीं हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की

प्रतिकृति हो। देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं! मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता।

चंद्रगुप्त की महानता से मालविका परिचित हो चुकी है और उक्त कथन से सम्राट् की 'साधारण जन-सुलभ दुर्बलता भी वह देख लेती है। अपने को विश्वास-योग्य पाकर उसका हृदय प्रसन्नता से नाच उठता है और 'बहुत दिनों पर बनाई हुई माला' चंद्रगुप्त को पहना कर वह संतुष्ट हो जाती है। पश्चात्, प्रियतम' की प्रसन्नता के लिए 'स्वर में स्वर्गीय मधुरिमा' भर, दो मधुर गीत गाकर मालविका अपने को धन्य समझती है। सम्राट् का अतृप्त मुग्ध हृदय मधुप और कली का प्रसंग आते ही कह उठता है—मालविका, मन मधुर से भी चचल और पवन से भी प्रगतिशील है, वेगवान है। सिंधु देश की सरल बालिका इस कथन का संकेतार्थ समझती और निश्चित परन्तु सीधे-सादे ढंग से उत्तर देती है—मन का निग्रह करना ही महापुरुषों का स्वभाव है।

कल्याणी और मालविका के अतिरिक्त ग्रीककुमारी कार्नेलिया से चंद्रगुप्त ने प्रेम किया और कालांतर मे यही उसकी पत्नी बनी। विवाह के पूर्व कई बार चंद्रगुप्त की इससे एकांत में भेंट हुई, और उसे इस बात का आभास भी हो जाता है कि कार्नेलिया मेरी ओर आकृष्ट है, परंतु किसी भी साक्षात् में इसने कोई ऐसा संकेत नहीं किया जिससे पता लगे कि इसके हृदय की 'महानता' कुछ झुकना चाहती है; अथवा 'मन की चंचलता का वेग' उसके नियंत्रण से बाहर हो रहा है। हाँ, मालव-युद्ध के पश्चात् संधि हो जाने पर एक बार चंद्रगुप्त ने कार्नेलिया से इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की है कि मैं विस्मृत—'स्मृति को वह जीवन का पुरस्कार समझता है'—नहीं हुआ; परन्तु ग्रीककुमारी के मुख से यह सुनकर—परन्तु मैं कितने दूर देश की हूँ। स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर दंड हो जाती हैं। अतीत के कारागृह में वंदिनी स्मृतियाँ अपने करुण विश्वास की शृङ्खलाओं को झनझनाकर सूचीभेद्य अंधकार में सो जाती हैं—उसके शब्दों के

गूढ़ार्थ को न समझ कर वह कह जाता है—ऐसा हो तो भूल जाओ शुभे! इस केन्द्रच्युत जलते हुए उल्कापिंड की कोई कक्षा नहीं। निर्वासित, अपमानित प्राणों की चिंता ही क्या! चंद्रगुप्त का यह कथन कार्नेलिया के प्रति उसके आकृष्ट होने का परिचायक ही है, परन्तु अस्वस्थ और अनियंत्रित हृदय का वासनाजनित उद्‌गार कदापि नहीं।

चाणक्य

तक्षशिला विश्वविद्यालय का स्नातक जिसके 'दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और कोमल हृदय में कर्तव्य के लिये प्रलय की आँधी चला लेने की भी कठोरता है।' निर्धनता के कारण गुरु-दक्षिणा-रूप मे विश्वविद्यालय के भावी स्नातकों को एक वर्ष तक अर्थशास्त्र की शिक्षा वह देता है। व्याख्या का दृष्टि से अर्थशास्त्र के संकुचित अर्थ को स्वीकार न करके व्यावहारिक जीवन में सामाजिक राजनीति पर दृष्टि रखना ही यह अर्थशास्त्र-शिक्षा का सच्चा प्रयोग समझता है। मगध के बंदीगृह में उसने कहा भी है—कात्यायन! अब केवल पाणिनि से काम न चलेगा। अर्थशास्त्र और दंडनीति की आवश्यकता है। × × ×। मेरे पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नही है।

सतर्कता, स्वाभिमान, दूरदर्शिता और गौरवमय गम्भीरता, चाणक्य के चरित्र के इन चार महान् गुणो का परिचय हमें नाटक के प्रथम दृश्य में ही मिल जाता है। तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की बात सिंहरण के मुख से सुनते ही सतर्क होकर शिक्षकोचित प्रश्न करके उसकी परीक्षा लेता है—जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यो आए हैं? भावी गांधार नरेश आंभीक के गर्वपूर्ण प्रश्न—बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रह कर, मेरे अन्न से पल कर मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन?—का उत्तर स्वाभिमान भरे स्वर में देता है—राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य मे रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य मे विचरता है और अमृत होकर जीता है।

यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।

आवेश मे आकर उद्धतस्वभाव वाले आंभीक के तलवार चला देने पर भी वह अपनी गौरवयुक्त गंभीरता से राजकुमारी को उसे लिवा ले जाने की आज्ञा देता है। देश की स्थिति का वह पूर्ण जानकार है और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाँति चंद्रगुप्त को समझाता है—तुम लोगों को समझ कर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। × × ×। आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होगे। आर्यावर्त का सर्वनाश होगा। मगध अमात्य राक्षस का यह प्रश्न—तुम तक्षशिला में मगध के गुप्त प्रणिधि बन कर जाना चाहते हो या मृत्यु?—सुनते ही अपनी दूरदर्शिणी बुद्धि से उसका आशय समझ जाता है और निर्भीक स्वर मे उत्तर देता है—जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं और सुनो, पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए तो कदापि नहीं। तक्षशिला मे शिक्षण-कार्य समाप्त करने के बाद मगध लौटने पर शकटार और अपने पिता की दुर्दशा की कथा सुनकर वह क्षोभ भरे स्वर मे कहता है—दो दो कुटुम्बों का नाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है! क्या इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था? चाणक्य के क्षोभ का यह रूप उसके कार्यक्रम की भावी गति-विधि का नियंत्रण करता है।

निर्भीकता चाणक्य के चरित्र की ऐसी विशेषता है जिसका परिचय हमें उसके प्रत्येक कथन से मिलता है और ब्राह्मण के गौरव का प्रश्न आ जाने पर उसकी उत्तेजना और भी बढ़ जाती है। गांधारराज आंभीक को फटकारने के बाद मगध-सम्राट् नंद के दरबार में भी वह बिना सूचना दिए ही पहुँच जाता है। बौद्धों के पक्षपाती अमात्य राक्षस का विरोध वह भरे दरबार में करता है और काफी जोरदार शब्दों मे। उत्तेजित होकर सम्राट् नंद जब उसका अपमान करता है तब चाणक्य निर्भीकता से उसे सावधान करते हुए कहता है—

नंद, तुम्हारी धर्मांधता से प्रेरित राजनीति आँधी की तरह चलेगी, उसमें नंद-वश समूल उखड़ेगा। नियति-सुन्दरी के भँवो में बल पड़ने लगा है। समय आ गया है कि शूद्र राज-सिंहासन से हटाए जायँ, और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हो। अपना कार्य साधने के लिए पर्वतेश्वर को प्रलोभन वह देता है—निरुपाय हूँ, लौट जाऊँगा। नहीं तो मगध की लक्षाधिक सेना आगामी यवन-युद्ध मे पौरव की पताका के नीचे युद्ध करती। वही मगध जिसने सहायता माँगने पर पञ्चनदनरेश का तिरस्कार किया था। परन्तु ज्योंही पर्वतेश्वर व्यंग्यपूर्वक उसका तिरस्कार करता है त्योंही उसको सभा में डाँट देता है—भविष्य इसका विचार करेगा कि ऋषि किन्हें करते हैं। क्षत्रियाभिमानी पौरव ! तुम इसके निर्णायक नही हो सकते। ××× । और स्मरण रखना, आसन्न यवन युद्ध में, शौर्य-गर्व से तुम पराभूत होगे। यवनों के द्वारा समग्र आर्यावर्त पादाक्रांत होगा। उस समय तुम मुझे स्मरण करोगे।

मगध सम्राट् नंद की आज्ञा से बंदी किए जाने पर बदीगृह की निष्ठुर यत्रणा की कठोरता से वह तिलमिला तो जाता है, परन्तु दया की भिक्षा नही माँगता; राक्षस और वररुचि दोनो के प्रस्तावों को तिरस्कार पूर्वक ठुकरा कर उसने प्रण किया है—आज से मैं प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा। क्या कभी नही ? हाँ, हाँ, कभी किसी पर नहीं। मैं प्रलय के समान अबाधगति और कर्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूँगा। जीवन भर चाणक्य अपने इस निश्चय पर अटल रहता है।

साधन के अभाव में बढ़ी हुई विरोधी शक्ति का सामना शक्ति से नहीं, युक्ति से किया जाता है। यही राजनीति है। चाणक्य इसे समझता है। सिकन्दर और पौरव के युद्ध में यह सोच कर कि भारतीय वीरो की हानि होगी, वह चन्द्रगुप्त और सिंहरण को जूझ-जाने की सलाह नहीं देता। चारों ओर कठिनाइयाँ हैं, कहीं कोई सहारा नहीं और उनसे परेशान होकर सिंहरण कह जाता है—विपत्तियों के बादल

मँडरा रहे हैं—और तभी एक कुशल नीतिज्ञ की भाँति चाणक्य उसे समझाता है—पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं और मेरी नीति-लता भी उसी भाँति विपत्ति-तम में लहलही होगी। हाँ, केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा।

राजनीति की दूसरी धारा यह है कि दाँत में सोना दबा कर शत्रु का नाश नहीं किया जाता; साम, दाम, दंड, भेद, किसी भी रीति से विजय मिले, यही लक्ष्य रहना चाहिए। महाभारत के भयंकर युद्ध मे पांडवपक्ष की विजय का मूल कारण श्रीकृष्ण की यही नीति थी। चाणक्य भी 'सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों।' इसीलिए चन्द्रगुप्त और सिंहरण जैसे अद्वितीय वीरो को नट और सँपेरा बनाकर भी पर्वतेश्वर को यवनों से पराजित हो जाने देता है। मालवों की युद्धपरिषद् को गणराष्ट्र की पक्षपातिनी जान कर समझाता है कि चन्द्रगुप्त को यदि तुम लोग अपना सेनापति बना लोगे तो मालव और क्षुद्रक दोनो ही स्वतंत्र संघ हैं और रहेंगे। संभवतः इसमे प्राच्यों का एक गणराष्ट्र आगमी दिनों मे और आ मिलेगा। कल्याणी मगध लौटना चाहती है तो इस भय से कि कहीं मागध सेना वह अपने साथ वापस न ले जाय, उसे चन्द्रगुप्त के प्रेम का प्रलोभन देकर पूछता है—चन्द्रगुप्त से क्या कह दिया जाय? ××× । उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा। वह बिना पतवार की नौका के सदृश इधर-उधर बहेगा। इसी प्रकार राक्षस को रोकने के उद्देश्य से समझाता है कि यवनों को भ्रम में डालने के लिए क्षुद्रकों, मालवों और मागधों की जिस सेना के प्रदर्शन से विदेशियों को भयभीत किया है, उनका भ्रम बनाए रखने में ही मगध साम्राज्य का कल्याण है और उसकी उक्ति सुनकर अमात्य राक्षस को कहना ही पड़ता है—आह ब्राह्मण! मैं स्वयं रहूँगा। यह तो मान लेने योग्य सम्मति है। कुछ देर बाद राक्षस को एकांत में पाकर वह बताता है—नंद को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित सम्बन्ध का विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा मगध लौटना ठीक न होगा। और इस तरह मगध लौटने की इच्छा बहुत समय के लिए मन से निकालने पर राक्षस

को विवश कर लेता है। अपने कथन की पुष्टि के लिए एक दिन अपने ही सैनिक मागधों के रूप में भेज कर राक्षस को बंदी करना चाहता है और दूसरे दल द्वारा उसकी रक्षा करा लेता है। राक्षस इस अभिनय को सत्य समझ कर चाणक्य का कृतज्ञ होता है और भुलावे में आकर उसे अपनी अँगूठी दे देता है जिसकी सहायता से जाली पत्र लिख कर मगध सम्राट् नद को अमात्य राक्षस के विरुद्ध करने मे उसे पूरी सफलता मिलती है।

परिस्थिति का धीरतापूर्वक अध्ययन करके, परिणाम के सम्बन्ध में दृढ़ हो जाना आत्मविश्वास की पराकाष्ठा समझी जाती है। राजनीत की अनिश्चित फल वाली घटनाओं के विषय मे चाणक्य का आत्मविश्वास इसी सीमा तक पहुँचा हुआ है। 'महानगरी कुसुमपुर का ध्वंस और नन्द की पराजय' की संभावना की शंका जब अलका करती है तब चाणक्य का निश्चित उत्तर है—अलके! चाणक्य अपना कार्य अपनी बुद्धि से साधन करेगा। तुम देखती भर रहो और जो मैं बताऊँ करती चलो। इसी प्रकार कात्यायन से भी आत्मविश्वास भरे स्वर में उसने कहा है—वह तो होकर रहेगा जिसे मैंने स्थिर कर लिया है। वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठती है! फिर मैं क्या करूँ ?

प्रसाद जी की एक प्रिय विशेषता यह है कि मगधकुमारी कल्याणी के आत्महत्या कर लेने पर निष्ठुरता की चरमावस्था रूप यह वाक्य—' चन्द्रगुप्त! आज तुम निष्कंटक हुए—कहने वाले क्रूर चाणक्य की आन्तरिक कोमलता का पता भी हमें नाटक में दे देते हैं। तक्षशिला से लौटने पर मगध की पुरानी स्मृतियाँ उसके सामने नाच उठती हैं। यवन-सेना का प्रथम आक्रमण विफल करने के पश्चात् कुसुमपुर का ध्वस करने के लिए जब वह पुनः अपने जन्म स्थान में प्रवेश करता है तब भी उसे याद आ जाती है कि यही मेरे जीवन का प्रभात हुआ था।

सुवासिनी उसकी बालसहचरी है। चाणक्य को सूचना मिली है कि उसने बौद्धधर्म स्वीकार कर नन्द की रगशाला में प्रवेश कर

लिया है। इसलिए सुवासिनी को देखते ही साधारण मानवी दुर्बलता का परिचायक क्षोभयुक्त व्यंग्य करता है—चलो, वारविलासिनियों के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी। परन्तु आगे चल कर वह स्वयं सम्हलता है। उसे ज्ञात है कि पति-पत्नी भाव से राक्षस-सुवासिनी का प्रेम विकसित हो चुका है। अतः अपनी प्रेमिका के सुख-संतोष और अपनी भावी शान्ति के लिए अद्भुत संयम से काम करता है और सहृद राक्षस का वरण करने के लिए सुवासिनी को विवश करता है। वासनायुक्त मानव हृदय पर त्यागयुक्त संयम की यह कितनी महत्वपूर्ण विजय है।

व्यक्ति के कार्यों और विचारों की सार्थकता इसी में है कि पक्ष-विपक्ष के सभी सम्मानित सदस्य अंततः उसकी प्रशंसा करें। चाणक्य को इस तरह की सबसे अधिक सफलता मिलती है। मगध अमात्य राक्षस उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वंद्वी है और उसीने बार बार चाणक्य की प्रशंसा की है। मगध को बचाए रखने के लिए यवनों को अटकाए रखने की उसकी योजना को सुनकर कल्याणी से राक्षस कहता है—मैं इसका मुँह भी नहीं देखना चाहता; पर इसकी बातें मानने के लिए विवश हो रहा हूँ। आगे चल कर यवन-पराजय की कहानी सुनने पर उसके मुख से स्वतः निकल पड़ता है—चाणक्य, विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूटराजनीति के साथ दिनरात जैसे खिलवाड़ किया करती है। × × ×। चाणक्य ! तू धन्य है ! मुझे ईर्ष्या होती है।

चाणक्य का दूसरा विरोधी पर्वतेश्वर है जिसने चन्द्रगुप्त के क्षत्रित्व के सम्बन्ध में शंका करके उसके ब्राह्मणत्व की हँसी उड़ाई थी। यवनों द्वारा आर्यावर्त को पददलित होते देख वह भी स्वीकारता है—ब्राह्मण, तुम्हारी बात सच हुई। मैं गर्व से भूला था। तुम्हारी बात न मानी। अब उसी का प्रायश्चित्त करने जाता हूँ। × × ×। यह नृशंसता की बाढ़ उतारना आप ही का काम है।

विपक्ष के जिन व्यक्तियों से हमारा परिचय होता है उनमें यवन सेनापति और विश्वविजेता सिकन्दर मुख्य हैं। दोनों ने ही प्रखर

बुद्धि चाणक्य की प्रशंसा करके अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया और अपने साथ भारत का महत्त्व बढ़ाया है।

सिंहरण

मालवगण मुख्य का यह कुमार साहसी, उत्साही और निर्भीक है। अध्ययन की गम्भीरता अपने में लाने की वह चिंता नहीं करता और स्वीकारता है कि मालवो को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नही है जितनी अस्त्रशास्त्र की। और देश की सामयिक स्थिति की उसकी जानकारी भी दूरदर्शिता-रहित नही है। 'तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने' की उसे आज्ञा मिलती है और इसका पालन यह स्वाभिमानी युवक बडी रुचि और उत्साह से करता है। यवनों से मिल कर देश की स्वतंत्रता सकट में डाल देने वाले तक्षशिलाधीश के कुचक्र से वह परिचित हो गया है और सच्चे देशभक्त की तरह गांधार के 'इस पतन को वह अपना अपमान' समझता है। 'मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त है'—राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत उसका यह कथन कितना महत्वपूर्ण है। निर्भीक यह युवक इतना है कि भावी गांधारनरेश आंभीक को सामने पाकर भी व्यग्य करता है—कुचक्र वे ही कर सकते हैं जिनका स्वार्थ समुद्र से भी विशाल और सुमेरु से भी कठोर हो, जो यवनो की मित्रता के लिए स्वयं वाह्लीक तक गए थे। × × ×। यवन आक्रमणकारियो के दुष्फल स्वर्ण से जो पुलकित हो रहे हो। जिनका खड्ग कोश (पुष्कल) स्वर्ण से भर गया है। सिकंदर का दूत आकर सूचना देता है कि देवपुत्र ने आज्ञा दी है कि मालव-नेता मुझसे भेंट करें और मेरी जलयात्रा की सुविधा का प्रबन्ध करें। इसके उत्तर मे बड़ी निर्भीकता से सिंहरण कहला देता है—सिकंदर से मालवो की ऐसी कोई संधि नहीं हुई है, जिससे वे इस कार्य के लिए बाध्य हों। हाँ, भेंट करने के लिए मालव सदैव प्रस्तुत हैं; चाहे संधि-परिषद् में या रणभूमि में।

आत्माभिमान की भी इस वीर युवक में कमी नहीं है और उसे पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा। साहसी वह इतना है कि यवन सेनापति सिल्यूकस को मानचित्र की चाह करते और तलवार निकालते देख स्वयं भी प्रस्तुत होकर उत्तर देता है—मानचित्र के अधिकारी का निर्वाचन खड्ग करेगा, सावधान हो जाओ। वीरता में यह किसी देशी-विदेशी वीर से कम नही है। मालवदुर्ग में सिकंदर को भी इसने बुरी तरह घायल किया है और इतिहासकारों का मत है कि यही घाव सिकंदर की असामयिक मृत्यु का कारण हुआ। उसका देशभक्त युवकोचित आदर्श है जन्मभूमि के लिए यह जीवन है और शक्तिभर वह इस अनुकरणीय लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है।

भारतीयता की भावना इस वीर में बड़ी सशक्त है। मालवदुर्ग में यवन-सम्राट् सिकंदर को घायल करके भी यवन-सैनिकों को आज्ञा देता है कि इसे उठा ले जाओ। मालव-सैनिक जब इसका विरोध सा करते हैं क्योंकि 'उस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है' और प्रतिशोध के लिए उत्तेजित हो जाते हैं तब सिंहरण उन्हें यह कह कर शांत करता है—ठहरो, मालव-वीरों, ठहरो। यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था; पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है। भारतीय गौरव-वृद्धि की दृष्टि से प्रतिशोध का यह रूप कितना महान् और चमत्कार पूर्ण है!

व्यक्ति की परीक्षा विपत्ति में होती है और यदि प्राण-संकट उपस्थित हो जाय तब तो मनुष्य किस धातु का बना है, इसकी परीक्षा बहुत शीघ्र ही हो जाती है। सिंहरण के सामने भी एक बार यही स्थिति आती है। 'मालवदुर्ग का द्वार टूट चुका है और यवन-सेना भीतर आती है।' सिंहरण अपने चुने हुए सैनिकों के साथ भीतर घिर गया है। बाहर से किसी तरह की सहायता मिलने की आशा नही है। अतः निश्चित है कि सभी मालववीरों के साथ सिंहरण इससे विचलित नहीं होता। इस स्थिति का सामना करने

को वह सहर्ष तैयार हो जाता है। 'मालव के ध्वंस पर आर्यों का यश-मंदिर ऊँचा खड़ा हो सकेगा।' प्रेमिका अलका से सांत्वना रूप मे कहे गए ये शब्द कितने महत्व के हैं! सैनिकों को वह उत्साहित करता है—कुछ चिन्ता नही, दृढ़ रहो। समस्त मालव सेना मे कह दो, सिंहरण तुम्हारे साथ मरेगा। ऐसे वीर और साहसी भारतीय युवक के रहते किसी भी देश की स्वतंत्रता सकट में कैसे पड़ सकती है?

कल्याणी

'प्रसाद' जी द्वारा चित्रित प्रधान स्त्री-पात्रो के चरित्र मे सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका प्रेम वासना की पूर्ति के लिए नहीं होता। प्रेम की स्मृति की कसक को उन्होंने अत्यन्त आवश्यक, प्रकृति के नियम के रूप मे देखा, परन्तु उन्माद और प्रलाप से उसे सदैव पृथक् रखा है। उनके पुरुप-पात्र तो क्या, स्त्रियाँ भी आदर्श प्रेम ही रखती हैं। अपने प्रेमी के सकेत मात्र पर अपनी समस्त अभिलापाओं को कुचलकर समस्त आवेगों और उद्गारो को अपनी एक मधुर मुस्कान से छिपाकर, ठीक वैसे ही जैसे सागर की अगाध गम्भीरता छाती में बड़वानल छिपाये रहती है, हृदय में उठाने वाले भीपण अतिरिक्त द्वंद्वों के तूफान-रूप आँसुओं को वे इस तरह पी जाती हैं कि पाठक आश्चर्य-चकित और प्रभावित होकर उनके मुख की ओर न देखकर उनके श्रीचरणो की ओर निहारने लगता है। इसका यह तात्पर्य नही कि वे अपने सुन्दर मनो राज्यो मे विचरण करती ही नहीं अथवा भविष्य के सुन्दर सुख-स्वप्न नही देखतीं, वरन् यह है कि यह सब होते हुए भी अवसर पड़ने पर स्वयं ही हँसते-हँसते वे अपनी लालसाओं को मसल देती हैं। एक शब्द में, उनका प्रेम संयत और अत्यन्त त्यागपूर्ण होता है। अतीत की मधुर स्मृति उनके हृदय में गुदगुदी अवश्य किया करती है, पर उसके वशीभूत हो वे आत्मविस्मृत नहीं हो जातीं। यही उनके चरित्र की विशेषता है।

कल्याणी का स्थान भी प्रसाद जी चित्रित ऐसी प्रेमिकाओं में है यद्यपि प्रसाद जी ने नाटक की संकेतात्मक शैली के कारण चंद्रगुप्त और उसके प्रेम की स्पष्ट व्याख्या नहीं की तथापि 'यह मानना होगा कि उसके चरित्र का विकास अत्यंत मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक ढंग से हुआ है। साथ ही, हम यह भी कह सकते हैं कि उसका चरित्र आदर्श बनाने की ओर प्रसाद जी का उतना ध्यान अथवा प्रयास नहीं है जितना उसकी प्रकृति की स्वाभाविक दुर्बलता से हमें परिचित कराने की ओर।

कल्याणी मगध के दुराचारी राजा की सरल विचार वाली कन्या है। उसका हमसे परिचय नाटककार ने उस समय कराया है जब मगध के कुछ ब्रह्मचारी अपने शासक के अत्याचारों की निंदा करते हुए जा रहे हैं। उनके मुख से अपने पिता की निंदा सुनकर एक ओर तो वह अत्यन्त भोलेपन से यह कहती है, 'मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नहीं करता,' और दूसरी ओर जैसे विरक्त होकर अथवा 'प्रसाद' जी के व्यक्तिगत दार्शनिक विचारों से प्रभावित होकर प्रश्न रूप में उसके मुख से निकल पड़ता है, 'इतना कदर्थित राजपद !—जिसे साधारण नागरिक भी घृणा की दृष्टि से देखता है—कितने मूल्य का है ?'

उक्त वाक्यों के कहलाने का उद्देश्य कल्याणी के विचारों से हमें परिचित कराना मात्र है। इसी प्रकार आगे भी जब कल्याणी को नीच जाति के दुराचारी राजा की कन्या समझकर पंजाब का राजा पर्वतेश्वर उससे विवाह करने का प्रस्ताव नहीं स्वीकार करता तब भी आवेश में आकर वह कहने लगती है—'पिता जी मैं पर्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूँगी। मैं वृषल-कन्या हूँ ? उस क्षत्रिय को यह दिखा दूँगी कि राजकन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नहीं। सेनापति को आज्ञा दीजिये कि आसन्न गांधार-युद्ध में मगध की एक सेना अवश्य जाय और मैं स्वयं उसका संचालन करूँगी। पराजित पर्वतेश्वर को सहायता देकर उसे नीचा दिखाऊँगी।' कल्याणी के इस आवेशपूर्ण उद्गार से हमें चकित न होना चाहिये। यह उद्गार

ऐसी कोमल और सरल स्वभाव की युवती के ही हैं जो मदारी को साँप का खेल दिखाते देखकर ही भोलेभाव से कह उठती है—'बड़ा कौतुक है महाराज! इन नागों को ये लोग किस प्रकार वश में कर लेते हैं।' बात यह है कि भारतीय नारी का हृदय कुसुम से भी कोमल होता है और पत्थर से भी कठोर,—यों वह सदैव भोली भाली है, सरल हृदय है और छल-प्रपंच से अनभिज्ञ है, पर यदि अवसर आ पड़ता है तब वह अपने हाथ से ही अपने पति और पुत्र तक के अपमान का बदला लेने के लिए, आत्मगौरव और सम्मान की रक्षा तथा अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए, स्वयं ही जीवन-संबंध-विच्छेद करने को कटिबद्ध हो जाती है। मध्यकालीन भारत के इतिहास में ऐसी अनेकानेक स्त्रियों के बलिदान के गौरवपूर्ण और अमर वर्णन मिलते हैं। राजस्थान के इतिहासकार टाड साहब ऐसे स्त्री-चरित्रों से बड़े ही प्रभावित हुए थे। कल्याणी का उक्त उद्गार बहुत कुछ इसी श्रेणी का है परन्तु उसमें स्वाभाविकता अधिक है, आदर्श और अपमान का ध्यान कम। इसीलिए वह पर्वतेश्वर के पास युद्धस्थल में पहुँचकर भी निराश होकर लौट आती है। संभव है, उसके चरित्र से सम्बन्ध रखने वाली यह घटना कुछ पाठकों को जटिल और विषम जान पड़ेगी।

कल्याणी चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है। मगध के मौर्य सेनापति के जिस पुत्र के साथ उसने अपनी बाल्यावस्था के बहुत से दिन बिताये थे, वयस्क होने पर उसी चन्द्रगुप्त से प्रेम हो जाना स्वाभाविक ही है। जब चन्द्रगुप्त लगभग पाँच वर्ष के लिए तक्षशिला में विद्याध्ययन करने जाता है तब कल्याणी उसकी मधुर स्मृति को लेकर सुनहले स्वप्न देखा करती है और एक दिन चन्द्रगुप्त के आने पर तथा उसके मुँह से यह शब्द सुनकर कि, 'देवि, तक्षशिला में पाँच वर्ष रहने के कारण यहाँ के लोगों को पहचानने में विलम्ब होता है। जिन्हें किशोर छोड़कर गया था अब वे तरुण दिखाई पड़ते हैं। मैं अपने कई सहचरों को भी न पहचान सका।' कल्याणी अत्यंत उत्सुकता से पूछती है—परन्तु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे।

नाटककार ने कल्याणी के इस उद्गार का चन्द्रगुप्त से कोई उत्तर नहीं दिलाया। पर कल्याणी का आशय पूरा हो जाता है; वह चन्द्रगुप्त को अपने विचारों से अवगत करा देती है। वह अपनी प्रीति गुप्त रखना चाहती हो सो बात भी नहीं है। दरबार में जब उसका पिता चन्द्रगुप्त से नाराज़ होता है तब उसकी रक्षा के लिए उसी का पक्ष लेकर वह अपने पिता से अनुरोध करती है—पिताजी, चन्द्रगुप्त पर ही दया कीजिए। एक बात उसकी भी मान लीजिये। इसी प्रकार युद्धक्षेत्र में जब वह पर्वतेश्वर को नीचा दिखाने के लिए जाती है और वहाँ चन्द्रगुप्त उसको देखकर कहता है.—राजकुमारी का युद्धक्षेत्र मे आना अनोखी बात है। तब कल्याणी स्पष्ट कह देती है—केवल तुम्हे देखने के लिए! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे।

अपने प्रेम को व्यक्त करने के लिए कल्याणी ने ऊपर जो वाक्य कहे है उनमें मानव जीवन की प्रकृति का एक रहस्य निहित है। प्रीति करने वाला सदैव यही चाहता है कि किसी प्रकार अपनी प्रीति का अपने प्रिय व्यक्ति को परिचय दे दूँ साथ ही वह यह भी जानना चाहती है कि उसका प्रिय व्यक्ति उससे प्रेम करता है या नहीं। पहली बात अर्थात् अपनी प्रीति को संकेतो, कार्यों, व्यापारो अथवा वचनों द्वारा व्यक्त करना तो मनुष्य मात्र के अधिकार मे रहता है, पर प्रिय व्यक्ति उससे प्रेम करता है या नही, यह जानना और यदि वह प्रेम नहीं करता तो उसके हृदय मे अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करना, सर्वथा उसके अधिकार की बात नही होती। कल्याणी भी पहला कार्य कर लेती है पर उसे यह ज्ञात नहीं हो पाता कि चन्द्रगुप्त भी उससे प्रेम करता है या नही। इस प्रकार की अनभिज्ञता की दशा मे प्रायः दो बातें हुआ करती हैं। यदि प्रेम करने वाला सच्चा प्रेम नहीं करता अथवा उसमें धैर्य नहीं होता तब वह अपने प्रिय व्यक्ति से अपने प्रेम का प्रत्युत्तर न पाकर या तो बेचैन हो जाता है या अपने जीवन से निराश। इसके विपरीत, यदि उसका प्रेम सच्चा हो तो वह प्रेमी व्यक्ति के प्रेम का परिचय पाने को उत्सुक तो थोड़ा-बहुत रहता है

पर यदि उसका कोई चिन्ह नहीं पता, तब भी बेचैन अथवा निराश नही होता, प्रत्युत उसका प्रेम नित्यप्रति दृढ़ होता जाता है। कल्याणी का प्रेम प्राय: ऐसा ही है। बहुत समय तक उसको चन्द्रगुप्त के प्रेम का स्पष्ट परिचय नही मिलता। इस पर भी न तो कल्याणी अधीर होती है और न निराश। अन्त में उसकी अभिलाषा पूर्ण होती है। चन्द्रगुप्त उसके सामने अपनी परिस्थिति स्पष्ट कर देता है। कल्याणी कहती है—'मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणो में एक मैं भी हूँ।'

चन्द्रगुप्त—परन्तु राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृतिलता मुरझा गयी है।

कल्याणी—चन्द्रगुप्त !

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी ! समय नहीं।

इस वार्तालाप से चन्द्रगुप्त के विषय में उसकी परिस्थिति साफ हो जाती है कि चन्द्रगुप्त उससे प्रेम अवश्य करता है पर देश की राजनीतिक झंझटों मे वह इतना व्यस्त है कि उस ओर ध्यान देने को उसके पास समय नहीं। दूसरी ओर पर्वतेश्वर से भी वह अपने अपमान का बदला नही ले पाती। फलतः वह कुछ किंकर्तव्यविमूढ सी हो जाती है और चाणक्य से जाकर कहती है—आर्य, अब मुझे लौटने की आज्ञा दीजिये।

चाणक्य—और चन्द्रगुप्त से क्या कह दिया जाय ?

कल्याणी—मैं नही जानती।

चाणक्य—परन्तु राजकुमारी, उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा। वह बिना पतवार की नौका के सदृश इधर-उधर बहेगा।

कल्याणी—आर्य, मैं इन बातों को नही सुनना चाहती, क्योंकि समय ने मुझे अव्यवस्थित बना दिया है।

इसके पश्चात केवल एक बार कल्याणी के दर्शन और होते हैं। वह मगध के राजकीय उपवन मे घूम रही है। उसका पिता नन्द मारा जा चुका है और मगध चन्द्रगुप्त के अधिकार में है। अपने ही

उपवन में बंदिनी कल्याणी यह सोचती टहल रही है—मैं वही तो हूँ जिसके संकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था! वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय है, पर छिन गया अधिकार और मनुष्य का मानदण्ड ऐश्वर्य। अब जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है।

इसी समय वहाँ पर्वतेश्वर आ जाता है। मद्यप की दशा में उसका अपमान करना चाहता है। अपनी लाज बचाने के लिए छुरा निकाल वह उसका वध करती है। चीत्कार सुनकर चन्द्रगुप्त प्रवेश करता और आते ही आश्चर्य से पूछता है—कल्याणी! कल्याणी! यह क्या?

कल्याणी—वही जो होना था। चन्द्रगुप्त! यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था।

इस पंक्ति में बोलते हुए कल्याणी के हृदय को देखिये। बार बार अपने प्रयत्न में असफल कुमारी-हृदय अपने पिता को, अपने पिता के राज्य को, सांसारिक सम्पत्ति—सम्बन्धी अपने समस्त वैभव को खोकर एकांत में कुछ देर रोने के लिए आता है और वहाँ भी उसका अपमान होता है। ठीक ऐसे ही समय यदि वह चन्द्रगुप्त को—उसी चन्द्रगुप्त को जिसके मुखचन्द्र की ओर जीवन भर वह टकटकी लगाये देखता रही, उसी प्रियवर को जो उसका एक मात्र अवलम्बन था, सवस्व था, पाकर जितना आवेग, विषाद और अधीरता से लड़ता हुआ प्रेम उसके हृदय में उमड़ा होगा, वह सब कल्याणी के 'चन्द्रगुप्त!' सम्बोधन से स्पष्ट है। परन्तु उद्वेग समाप्त नहीं होता और कल्याणी कहने लगती है—मुझे भ्रष्ट करके, अपनी संगिनी बनाकर (यह पशु-पर्वतेश्वर) पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु मौर्य! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त।

चन्द्र०—क्या यह सच है, कल्याणी?

कल्याणी—हाँ, यह सच है। परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए इसलिए उस प्रणय को, प्रेम-पीड़ा को, मैं पैरों से कुचल कर, दबा कर, खड़ी रही। अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा।

हृदय का बबूला वहीं बैठ गया और चुप होकर कल्याणी ने अचानक छुरी मार कर आत्महत्या कर ली।

यही प्रसाद-चित्रित कल्याणी का चरित्र है। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जिस चन्द्रगुप्त के पीछे वह जीवन भर भटकती रही, जिसे प्राप्त करने का जीवन भर प्रयत्न करती रही, उसी को पाकर उसने अपने पिता की ममता के पीछे ठुकरा दिया। बहुत कुछ ऐसा ही चरित्र प्रसाद जी की 'आकाशदीप' शीर्षक कहानी की पात्री चंपा का भी है। परन्तु दोनों में साम्य होते हुए भी कल्याणी का चरित्र विशेष महत्व का है। वह तो जिस प्रेमांकुर को जीवन भर हृदय के रक्त से सीचती रही है उसी के फूलने पर मुँह मोड़ लेती है। प्रेम प्रायः सभी नाटककारो के वर्णन का मुख्य विषय रहा है परन्तु ऐसा चरित्र शायद ही दूसरा मिले। कल्याणी के चरित्र मे दुर्बलताएँ हैं, पर उन्हीं के कारण वह हमारी सहानुभूति की पात्री बन सकी है।

अलका

ऐतिहासिक नाटकों में यद्यपि लेखक को देशकाल की परिस्थिति का ध्यान रखना पड़ता है तथापि नाटक को विशेष रोचक बनाने के लिए नाटककार को इतनी स्वतंत्रता भी रहती है—और यह वांछनीय भी है—कि वह अपनी रुचि के अनुसार कुछ ऐसे पात्रो की सृष्टि करे जिनके द्वारा अपने सिद्धातो, उद्देश्यो और आदर्शों को पाठको के सामने रखने का अवसर उसे प्राप्त हो सके। अलका की सृष्टि प्रस्तुत नाटक में प्रसाद जी ने इसी उद्देश्य से की है। यह तक्षशिला की राजकुमारी है। इतिहास के आधार पर उसके अस्तित्व-अनस्तित्व के विवाद में पड़ना तो व्यर्थ है; परन्तु इतना निश्चित है कि इस देश-प्रेमिका का अनुकरण करना जीवनोद्देश्य बना कर भारतीय युवतियाँ भी अपने देश में जागृति कर सकती हैं।

प्रथम दृश्य में अलका दयालु और गुणज्ञ नवयुवती के रूप में

सामने आती है। सिंहरण की निर्भीकता से विशेष प्रभावित हो आंभीक को रोक कर वह कहती है—'भाई! इस वन्य निर्भर के समान स्वच्छ और स्वच्छंद हृदय में कितना वेग है! यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है; जाने दो।' और अपमान, तिरस्कार और क्रोध से पागल भाई को पहुँचा कर सिंहरण से वह स्पष्ट कह देती है—मैं तुम्हारी सुख-शांति के लिए चिंतित हूँ।

सिंहरण के प्रति व्यक्त किए गए अलका के उक्त दोनों उद्गारों से एक बात यह ज्ञात होती है कि वह एक साधारण युवती है जो किसी सुन्दर, हृष्टपुष्ट नवयुवक के स्वाभिमान और आत्मगौरव-संबंधी निर्भीक भावों का आदर करती है। 'साधारण युवती' उसे इसलिए कहना चाहिए कि समादर की यह सहज वृत्ति समान रूप से सबके मन में उत्पन्न होती है। इस भावोदय के पश्चात् साधारण और आदर्श युवती का अंतर समझ में आता है। यदि युवक की सुन्दरता, निर्भीकता, योग्यता और स्वास्थ्य आदि पर मुग्ध होकर निजी वासना की पूर्ति की वह आशा करती है तो उसे साधारण युवती ही समझा जायगा। इसके विपरीत, यदि वह इन गुणों पर इस कारण मुग्ध हुई है कि इनका आदर करना सामाजिक कर्तव्य है, मनुष्यता के नाते धर्म है, उसका अनुकरण करना उन्नति-पथ पर अग्रसर होना है, तो हम युवती के विचारों की सहायता करेंगे। स्वकर्तव्यपालन कर सकने पर उसे बधाई देंगे।

प्रसादजी ने अलका को इसी दूसरे प्रकार की आदर्श युवती बनाया है। वीर युवक सिंहरण की निर्भीकता और स्वातंत्र्यप्रियता का वह आदर करती है और उसके देश-प्रेम सम्बन्धी विचारों से प्रभावित होकर स्वदेश-रक्षा के लिए स्वयं कटिबद्ध हो जाती है। उसे यह जानकर बड़ा दुख होता है कि उसका भाई विदेशियों से धन लेकर देश के शत्रु का नियकर्म कर रहा है और तब अलका सिंहरण को उत्साहित करती हुई स्वयं प्रतिज्ञा करती है—जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असंभव है। मालव वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतंत्रता है, तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त के रक्षण की शक्ति

है, तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिए। मैं भी आर्यावर्त की बालिका हूँ। आंभीक को मैं शक्ति भर पतन से रोकूँगी।

यहीं से अलका का कार्य आरंभ होता है। स्वदेशीय शत्रुओं का सहायक उसी का भाई है, इस कलंक का प्रायश्चित्त करने के लिए एक दिन राज्य के सुखों पर, संसार के वैभव पर लात मारकर 'उत्तरापथ की यह लक्ष्मी' कर्तव्य के पालन के आवेश में 'अनन्त पथ पर' चल देती है। कारण पूछने पर स्वाभिमान भरा उसका उत्तर है—यवनों के हाथ स्वाधीनता बेंच कर उनके दान से जीने की शक्ति मुझ में नहीं।

अलका के मुख से इतना कहला कर प्रसादजी का एक उद्देश्य पूरा हो जाता है। वे यह बता देते हैं कि भारतीय युवतियों से देश के लिए क्या आशा की जा सकती है और इसके लिए उन्हें कितना बड़ा त्याग करना होगा। अलका ने पिता को छोड़ा, भाई को छोड़ा राज्य और वैभव छोड़ा; देशीय स्वतंत्रता के लिए होने वाले यज्ञ में उसने अपने समस्त सुखों की आहुति दे दी। इतने बड़े और महत्वपूर्ण त्याग की आवश्यकता भी है। जितना महान् यज्ञ होगा, बलि भी उतनी ही महत्व की चाहिए और ऐसी ही आहुति देने के लिए देश की स्वाधीनता चाहने वाली भारतीय कुल देवियों को तैयार होना होगा। उनके रणचडी बनने पर ही देश स्वतंत्र हो सकेगा। अलका की तरह आर्य-पताका हाथ में लिए जब वे चारो तरफ गाती फिरेंगी—

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा-समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
'अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य-पथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति-राशियाँ,
विकीर्ण दिव्यदाह-सी,

सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी !
अराति सैन्य-सिंधु में सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

तब देश को स्वतंत्र होते देर न लगेगी, इसे पूर्णतया निश्चय समझिए।

एक बात और है। प्रसादजी ने अलका के हाथ में आर्य-पताका उद्देश्य-विशेष से ही दी है। फ्रांस की देवी जान आव आर्क की भाँति जब भारतीय देवियों के हाथ मे पताका होगी, तब कहाँ तक आंभीक जैसे विलासी युवक शर्म न खायँगे। अलका की तरह जब वे पुकार कर कहेंगी—वीर नागरिको ! देश पददलित हो रहा है और तुम विलासिता में फँस रहे हो ! क्या यही मातृभूमि के प्रति तुम्हारा कर्तव्य है ? तब क्या हमारे युवक अपने को सम्हाल सकेंगे ? नाटक में भी तो अलका को उत्तेजना फैलाते देख कर आंभीक प्रभावित होता है। चाणक्य से उसकी बातचीत सुनिए—

आंभीक—यह अलका है ! तक्षशिला में (उक्त गीतगाकर) उत्तेजना फैलाती हुई यह अलका !

चाणक्य—हाँ आंभीक ! तुम उसे बंदी बनाओ, मुँह बन्द करो।

आंभीक—(कुछ सोच कर) असंभव ! मैं भी साम्राज्य में सम्मिलित होऊँगा।

चाणक्य—यह मैं कैसे कहूँ ? मेरी लक्ष्मी अलका ने आर्य गौरव के लिये क्या क्या कष्ट नहीं उठाए ? वह भी तो इसी वंश की बालिका है ! फिर तुम तो पुरुष हो, तुम्हीं सोच देखो !

आंभीक—व्यर्थ का अभिमान मुझे अब देश के कल्याण मे बाधक न सिद्ध करेगा। आर्य चाणक्य, मैं आर्य सम्राट् से बाहर नहीं हूँ।

देश प्रेमिका अलका के देश प्रेम से प्रभावित आंभीक के हृदय मे उठा हुआ उक्त उद्गार क्षणिक नहीं है। विगत युद्ध मे यवनों का साथ देने वाला आंभीक—इस बार सचेत है, पूर्व कर्म पर उसे खेद है

है, तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिए। मैं भी आर्यावर्त की बालिका हूँ। आंभीक को मैं शक्ति भर पतन से रोकूँगी।

यहीं से अलका का कार्य आरंभ होता है। स्वदेशीय शत्रुओं का सहायक उसी का भाई है, इस कलंक का प्रायश्चित करने के लिए एक दिन राज्य के सुखों पर, संसार के वैभव पर लात मारकर उत्तरापथ की यह लक्ष्मी' कर्तव्य के पालन के आवेश में 'अनन्त पथ पर' चल देती है। कारण पूछने पर स्वाभिमान भरा उसका उत्तर है—यवनों के हाथ स्वाधीनता बेंच कर उनके दान से जीने की शक्ति मुझ में नहीं।

अलका के मुख से इतना कहला कर प्रसादजी का एक उद्देश्य पूरा हो जाता है। वे यह बता देते हैं कि भारतीय युवतियों से देश के लिए क्या आशा की जा सकती है और इसके लिए उन्हें कितना बड़ा त्याग करना होगा। अलका ने पिता को छोड़ा, भाई को छोड़ा राज्य और वैभव छोड़ा; देशीय स्वतंत्रता क लिए होने वाले यज्ञ में उसने अपने समस्त सुखों की आहुति दे दी। इतने बड़े और महत्वपूर्ण त्याग की आवश्यकता भी है। जितना महान् यज्ञ होगा, बलि भी उतनी ही महत्व की चाहिए और ऐसी ही आहुति देने के लिए देश की स्वाधीनता चाहने वाली भारतीय कुल देवियों को तैयार होना होगा। उनके रणचंडी बनने पर ही देश स्वतंत्र हो सकेगा। अलका की तरह आर्य-पताका हाथ में लिए जब वे चारो तरफ गाती फिरेंगी—

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा-समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
'अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य-पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति-राशियाँ,
विकीर्ण दिव्यदाह-सी,

सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी !
अराति सैन्य-सिंधु में सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

तब देश को स्वतंत्र होते देर न लगेगी, इसे पूर्णतया निश्चय समझिए।

एक बात और है। प्रसादजी ने अलका के हाथ में आर्य-पताका उद्देश्य-विशेष से ही दी है। फ्रांस की देवी जान आव आर्क की भाँति जब भारतीय देवियों के हाथ में पताका होगी, तब कहाँ तक आंभीक जैसे विलासी युवक शर्म न खायँगे। अलका की तरह जब वे पुकार कर कहेंगी—वीर नागरिको ! देश पददलित हो रहा है और तुम विलासिता में फँस रहे हो ! क्या यही मातृभूमि के प्रति तुम्हारा कर्तव्य है ? तब क्या हमारे युवक अपने को सम्हाल सकेंगे ? नाटक में भी तो अलका को उत्तेजना फैलाते देख कर आंभीक प्रभावित होता है। चाणक्य से उसकी बातचीत सुनिए—

आंभीक—यह अलका है ! तक्षशिला में (उक्त गीतगाकर) उत्तेजना फैलाती हुई यह अलका !

चाणक्य—हाँ आंभीक ! तुम उसे बंदी बनाओ, मुँह बन्द करो।

आंभीक—(कुछ सोच कर) असंभव ! मैं भी साम्राज्य में सम्मिलित होऊँगा।

चाणक्य—यह मैं कैसे कहूँ ? मेरी लक्ष्मी अलका ने आर्य-गौरव के लिये क्या क्या कष्ट नहीं उठाए ? वह भी तो इसी वंश की बालिका है ! फिर तुम तो पुरुष हो, तुम्हीं सोच देखो !

आंभीक—व्यर्थ का अभिमान मुझे अब देश के कल्याण में बाधक न सिद्ध करेगा। आर्य चाणक्य, मैं आर्य सम्राट् से बाहर नहीं हूँ।

देश-प्रेमिका अलका के देश प्रेम से प्रभावित आंभीक के हृदय में उठा हुआ उक्त उद्गार क्षणिक नहीं है। विगत युद्ध में यवनों का साथ देने वाला आंभीक—इस बार सचेत है, पूर्व कर्म पर उसे

ग्लानि है और उसी आवेश मे आगे बढ़ कर वह अलका से कहता है—बहन तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। मैं भूल करता था—बहन। तक्षशिला के लिए अलका पर्याप्त है; आंभीक की आवश्यकता न थी। मैं देश-द्रोही हूँ, नीच हूँ तू ने तो मगध के राजवंश का मुख उज्ज्वल किया है। राज्यासन के योग्य तू ही है।

नाटककार की यही अभिलाषा थी और हमें हर्ष है कि वह नाटक में पूर्ण होती। अब प्रश्न यह है कि क्या इससे देश की वर्तमान परिस्थिति को सम्हालने के लिए कुछ उत्तेजना मिलती है? अब कल्पना के लोक मे विचरण करने वाले हमारे विलासी युवक अपने भावी जीवन के लिए कुछ अंश समझ सकेंगे अथवा प्रसादजी का उक्त चित्र केवल काल्पनिक है और अलका कवि-प्रसाद के कल्पनालोक मे विहार करने वाली कोई दिव्य बालिका? इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कहना नही है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों ने ऐसी अनेक कोमल कलेवरा कामिनियों के दिव्य चरित्र और अलौकिक कामों पर हमें विश्वास न होता हो तब तो बात दूसरी है; पर यदि हम उनके कार्यों को गर्व की दृष्टि से देखते हैं, अपने गौरव की चीज समझते हैं तो हमें प्रसादजी का कृतज्ञ होना चाहिये कि उन्होंने हमारा एक खोया हुआ रत्न ढूँढ़ कर हमे पुन प्रदान किया है और सो भी ऐसे अवसर पर जब हमे उसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

अलका मे और भी गुण हैं। वह बुद्धिमती है, आत्माभिमानिनी है, सरल और निष्कपट प्रेमिका है, विनोदिनी और सहास बालिका है। उसका प्रत्येक कार्य देशोन्नति से सम्बन्ध रखता है और साहस के रंग मे रँगा पाकर उसका जीवन सार्थक हो जाता है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण है उसका वह संदेश जो उसने भाई आंभीक को दिया है—राज्य किसी का नहीं है; सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट् चंद्रगुप्त तक इस महान् आर्य साम्राज्य के सेवक हैं।

स्वतंत्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा वही वरेण्य है। उसी की पूजा होगी। भाई, तक्षशिला तेरी नहीं और हमारी भी नहीं तक्षशिला आर्यावर्त का एक भूभाग है; वह आर्यावर्त की होकर रहे इसके लिये मर मिटो। फिर इसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहाँ अप्सराएँ विजय-माल लेकर खड़ी होंगी, सूर्य-मंडल मार्ग देखेगा और उज्ज्वल आलोक में मण्डित होकर गांधार का राजकुल अमर हो जायगा।

अलका के इस महत्वपूर्ण संदेश के सम्बन्ध में चाणक्य के स्वर में स्वर मिला कर हम भी 'साधु, अलके साधु!' कहना ही यथेष्ट समझते हैं।